तुम अनन्त शक्तिके स्रोत हो

लेखक मुनि नथमल

संकलयिता: कमलेश चतुर्वेदी

*

Lokodaya Series Title No 217

TUM ANANT SHAKTI KE SROTE HOE

(Ethi 6 Mar 1)

Muni Nathmal

Bharatiya Jnanpith Publication

First Edition 1965

Price Rs 2 00



प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय

९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता २७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी ५

विक्रय केन्द्र

३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली ६

प्रथम संस्करण १९६५

मूल्य २.००

प्राथमिकी



तुम अनन्त शक्तिके स्रोत हो। इस अभिप्रायसे स्पष्ट है कि शक्तिका स्रोत बाहरसे भीतरकी ओर नहीं आ रहा है, किन्तु भीतरसे बाहरकी ओर आ रहा है। हमारे भीतर शक्ति है, प्रकाश है और भी बहुत कुछ है पर हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं और मन भी बहिर्मुख हो रहा है। इसलिए अपनी आन्तरिक शक्ति और प्रकाशसे हम अपरिचित हैं। हम सुनी-सुनाई व रटी रटाई बातोंके आधारपर जानते हैं कि हमारे भीतर अनन्त शक्तियाँ छिपी पड़ी हैं। पर सचाई यह है कि हम नहीं जानते कि हमारे भीतर अनन्त शक्तियोंका अस्तित्व है।

मनुष्यके इस शाश्वत आनन्दको मिटानेके लिए हमारे पूर्वज ऋषियोंने एक विद्याका आविष्कार किया। उसे आप आध्यात्मिक विद्या, योग विद्या या प्राण विद्या कुछ भी कहिए, उसका प्रयोजन एक ही है और वह है अपनी भीतरी शक्तियोंका प्रकटन।

सांख्य, वैदिक, बौद्ध, जैन आदि सभी परम्पराओंमें योग विद्या सम्मान्य रही है। महर्षि पतंजलिका योगसूत्र, बौद्धोंका अभिधम्मकोष और विशुद्धिमग्ग, वैदिकोंका योग-वाशिष्ट, हठयोग तथा तन्त्र शास्त्रकी परम्परामें साधना सम्बन्धी अनेक

ग्रन्थ मिलते हैं। वे सुव्यवस्थित और सुसम्पादित हैं। जैन साहित्यमें भी वैसे ग्रन्थोंकी कमी नहीं है पर वे सुसम्पादित नहीं हैं। इसलिए योग विद्याके जिज्ञासुका पहला प्रश्न यह होता है कि क्या जैन-परम्परामें योग विद्याका स्थान है? यह प्रश्न अनेक व्यक्तियोंने मुझसे पूछा है और उन व्यक्तियोंने भी पूछा है जो जैन परम्परामें पले पुसे हैं। इस प्रश्नका पूर्ण समाधान अभी हम नहीं दे पाये हैं। आचार्य श्री तुलसी इस दिशामें प्रयत्नशील हैं और समय आने पर वह समाधान प्रस्तुत किया जायगा।

योग विद्याकी ओर मेरा झुकाव प्रारम्भसे ही रहा है। साधना व अनुभूतिका योग मिलनेपर वह सब सुलभ हो जाता है, जिसे दुर्लभ माना जाता है। आचार्य श्री तुलसीके प्रोत्साहन और मार्ग दर्शनने मुझे जिस दिशामें गतिशील बनाया वह स्थितिके सापेक्ष गति है। इसलिए इन निबन्धोंमें गति सापेक्ष स्थिति की अपेक्षा स्थिति सापेक्ष गति ही अधिक मिलेगी। उसकी आज अपेक्षा है।

मुनि श्रीचन्द्र 'कमल' तथा मुनि दुलहराजने इन निबन्धोंका संकलन कर उस सामयिक अपेक्षाकी पूर्ति की है। यह पुस्तक जैन योगके परिचय पानेका एक माध्यम बन जायगा — यह मैं मानता हूँ।

फाल्गुन कृष्णा १२ — *मुनि न*
नागौर (राजस्थान)

अनुक्रम

बौद्ध भिक्षु   तो क्या कारण है ?

आचार्यश्री   ध्यानकी उत्कृष्ट आराधनासे ही यह क्षमा बना हुआ है। मेरी बातपर विश्वास न हुआ हो तो कुछ दिन इसे आप अपने मठमें रख कर परीक्षा कीजिए।

बौद्ध भिक्षुने आचार्यकी वाणीका स्वीकार किया। दुर्बलिका पुष्पमित्र आचार्यका आदेश पा उन भिक्षुके साथ चले गये। कुछ दिनों वहाँ रहे। पौष्टिक भोजन किया पर वे स्थूल न बने। उनकी सूक्ष्मताने बौद्ध भिक्षुओंको प्रभावित किया और अब वे जैन शासनकी ध्यान प्रणालीके प्रति शङ्कित नहीं थे।

आचार्यश्री तुलसीके पास कोई दुर्बलिका पुष्यमित्र होता तो भिक्षु जगदीशजीको जिज्ञासाका उसी प्रकार परिताप मिलता किन्तु परिस्थिति भिन्न थी। आज ध्यानी मुनियों और ध्यान योगकी परम्परा लुप्त सी है। आगमोंमें ध्यानकी प्रणाली विकीर्ण सी है। परवर्ती साहित्यमें ध्यान तत्त्वानुशासन योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगशास्त्र जैसे छोटे ग्रन्थ हैं पर ध्यानकी समग्र प्रणालीका प्रतिपादक कोई ग्रन्थ नहीं है। जो सूक्ष्म तत्त्व होते हैं वे अभ्यास-क्रमके बिना विस्मृत हो जाते हैं। आज विस्मृति की दशा है यह स्वीकार करते हुए हमें कोई संकोच नहीं होता। भगवान महावीरकी सारी तपस्या ध्यान अभिमान परिपूर्ण थी। तपस्या क्या है ? कोरा अनशन ही तपस्या नहीं है। वह बाह्य तपस्या है, साधन है।

ध्यान आन्तरिक तपस्या है। अनशनके लिए ध्यान नहीं है   ध्यानके लिए अनशन है। बाह्य तप अनुपादेय नहीं है किन्तु वही उपास्य हो रहा है यह अनुपादेय है। मुनि दूसरे प्रहरमें ध्यान करे—यह आगम निर्देश—यह अभिग्रहधारी मुनिके लिए ही माना जाने लगा है। ध्यान, संवर योग जैसे शब्द अपरिचित-से होते जा रहे हैं। आजका जन मानस जितना बाह्याचारपरक है उतना अध्यात्मयोगपरक नहीं है। जैन धर्मका मूल सूत्र है—कषाय विजय। साधनाका आलम्बन कषाय विजयके लिए है पर

साधनाके लिए वनस्पतिका उपयोग उचित माना है। मनुष्य और समाजके लिए यह न टिकनेवाला है। वनस्पतिका भौतिक आधार अत्यावश्यक विचारमें लगता है। इसलिए अर्थात् विचारणीय यह है कि

१ साधनाके लिए वनस्पतिका हानि न हो, आरोग्यके लिए वनस्पतिका उपयोग न हो।

२ ध्यान मन्दिर और उपासनाका कैसे निश्चित हो?



जैन योग

उमास्वातिने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है। उसीको आचार्य हेमचन्द्रने योग कहा है। हरिभद्र सूरिके अभिमतमें धर्म मात्र योग है। योग वह है जो मोक्षसे योग—सम्बन्ध कराये। धर्म मोक्षका साधन है इसलिए धर्मका जितना परिशुद्ध व्यापार है वह सब योग है। यह निश्चय दृष्टि है। किन्तु व्यवहार दृष्टि या सार्वत्रिक मतके अनुसार योग स्थान आसन आदि एकाग्रताके विशेष प्रयोगको कहा जाता है। हरिभद्र सूरिने योगके पाँच प्रकार बताये हैं—

१ स्थान कायोत्सर्ग पर्यंक पद्मासन आदि आसन।

२ ऊर्ण-वर्ण शब्द या उच्चारण मन्त्र जप आदि।

३ अर्थ शब्द आदिका भावार्थ।

४ आलम्बन रूपी द्रव्यमें मनको केन्द्रित करना।

५ रहित निरालम्ब या निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि रूप।

इनमें से प्रथम दो प्रकारोंको कर्मयोग और शेष तीन प्रकारोंको ज्ञान योग कहा है। पतञ्जलिके अनुसार योग है—

१ यम अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

२ नियम शौच संतोष तप स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान।

३ आसन सुखपूर्वक स्थिर होकर बैठना।

४ प्राणायाम श्वास प्रश्वासका गतिविच्छेद।

५ प्रत्याहार इन्द्रियोंको अपने अपने विषयोंसे हटाना, अन्तर्मुख करना।

६ धारणा चित्तको किसी ध्येयमें बाँधना—स्थिर करना।

७ ध्यान — चित्तका एक विषयमें स्थिर होना।

८ समाधि — वही ध्यान जब अर्थमात्रका प्रतिभास हो जाय, स्वरूप शून्य हो जाय।

जैन परम्परामें योगकी अष्टांग व्यवस्था नहीं है। हरिभद्र सूरिने जो अष्टांग व्यवस्था की है वह नवीन है। प्राचीन व्यवस्था द्वादशांग है। उसे तप कहा गया है। उसके बारह अंग हैं—

१ अनशन — उपवास आदि तप।
२ ऊनोदरी — कम खाना, मिताहार।
३ भिक्षाचरिका — जीवन निर्वाहके साधनोंका संयम।
४ रस परित्याग — सरस आहारका परित्याग, अस्वाद।
५ कायक्लेश — आसन।
६ संलीनता — इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे हटाकर अन्तर्मुखी करना।
७ प्रायश्चित्त — पूर्व कृत पाप विशुद्ध करना।
८ विनय — नम्रता।
९ वैयावृत्य — दूसरोंके लिए कुछ करना।
१० स्वाध्याय — पठन।
११ ध्यान — चित्त वृत्तियोंको स्थिर करना।
१२ व्युत्सर्ग — शरीरकी प्रवृत्तिको रोकना।

इनमें प्रथम छहको बाह्य और शेष छहको आभ्यन्तर तप कहा गया है। महर्षि पतञ्जलिने पूर्ववर्ती पाँच योगांगोंको बहिरंग साधन कहा है। धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीन अन्तरंग हैं। निर्बीज समाधिके लिए इन्हें भी बहिरंग माना है। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरिका और रस परित्याग, इनका सम्बन्ध भोजनसे है। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भोजनका विवेक प्रत्येक मनुष्यके लिए आवश्यक है। योगीके लिए उसकी और अधिक अपेक्षा है। जो व्यक्ति काल, क्षेत्र, मात्रा, स्वात्म्य, हित या पथ्य, परिमित वस्तु और अपनी पाचन शक्तिको देखकर भोजन करता है उसे औषधसे क्या?

औषध उस स्थिति होती है जो अग्नि और अजीर्ण साथ। यह स्वास्थ्य दृष्टि है। योग-साधनामें शरीरकी अपेक्षा मनको प्रधानता दी गयी है। मानसिक स्वास्थ्यके लिए भोजनपर जितना विचार किया गया है उतना ही भोजन न करनेपर किया है। जैनेतर योगाचार्य इस विषयमें भिन्न मत रखते हैं। घेरण्डने योगीके लिए उपवासका निषेध किया है। उन्होंने लिखा है कि योगी कठिन और बासी भोजन न करे। जैनाचार्योंने साधकके लिए तीव्र तपका विधान किया है। भगवान् महावीर दीर्घ तपस्वी थे। उन्होंने दीर्घ तप किया। दो उपवाससे लेकर छह मास तकके उपवास किये। दीर्घकालीन उपवाससे रासायनिक परिवर्तन होता है, संकल्प सिद्धि सहज सुलभ होती है, यह तथ्य उन्हें ज्ञात था।

उपवासका अर्थ आहार त्याग ही नहीं है। उसका अर्थ है विषय और विकारके त्यागकी संयुक्त आराधना। गीताके अनुसार— निराहार व्यक्ति विषयोंसे निवृत्ति पा लेता है। उससे रस नहीं छूटता। किन्तु रस रहित परमतत्त्वका साक्षात् पा लेने पर रससे भी मुक्त हो जाता है। उपवासका प्रयोजन शरीर शोषण नहीं, किन्तु लक्ष्यपूर्ति है। शरीरका शोषण होना उसका प्रासंगिक परिणाम है। महात्मा बुद्धने अपने लक्ष्यकी पूर्तिके लिए संकल्प किया— इस आसनपर बैठे बैठे मेरा शरीर भले सूख जाये, चमड़ा हड्डी और मांस भले विनष्ट हो जायें किन्तु दुर्लभ बोधिको प्राप्त किये बिना यह शरीर इस आसनसे विचलित नहीं होगा। भगवान् महावीरने संकल्प किया कि मैं सब प्रकारके कष्टोंको तबतक सहन करूँगा जबतक कैवल्यज्ञानकी उपलब्धि न हो जाय। संकल्पकी पूर्तिके लिए उपवास शरीर शोषण या विघ्न-वर्जन आवश्यक है। प्राणायामके साथ उपवासका सम्बन्ध कम है। उपवासका निषेध भी प्राणायामके प्रकरणमें किया गया है और उसके आरम्भमें दूध घी तथा दो बार भोजन करनेका विधान किया गया है।

जैन आचार्य प्राणायामको महत्त्व नहीं देते। उनके मतमें वह चित्त

निरोध और इन्द्रिय विजयका निश्चित उपाय नहीं है। जैन प्रक्रियाके अनुसार विजातीय द्रव्यका रेचन और अन्तरभावमें स्थिर होना कुम्भक है। चित्तकी एकाग्रताके लिए यही प्राणायाम है। योगवासिष्ठ में हठसे चित्तकी विजयको अनुपादेय माना गया है। ऊनोदरी या मिताहारके विषयमें सब आचार्य एक मत हैं।

रस-परित्यागका अर्थ है विकृति वर्धनकारक रसोंका वर्जन या आस्वाद वृत्ति। योग साधना और स्वाद-वृत्तिमें उतना ही विरोध है जितना विरोध अहिंसा और भयमें है। साधक नित्य रसोंका सेवन न करे, मात्रासे आहार करे, उसमें आसक्त न हो, उसकी स्मृति न करे, उसमें मनका नियोग न करे।

कायक्लेश

कायक्लेशके चार प्रकार हैं—

१ आसन। २ आतापना, सूर्यकी रश्मियोंका ताप लेना, शीतको सहन करना, निर्वस्त्र रहना। ३ विभूषा वर्जना। ४ परिकर्म, शरीरकी साज-सज्जाका वर्जन। आसन दो प्रकारके होते हैं—शरीरासन और ध्यानासन। पतञ्जलि आसनको 'स्थिर सुख' कहते हैं। ध्यानासनके लिए दो अपेक्षाएँ हैं—१ शरीर स्थिर रहे और २ सुखपूर्वक बैठा जा सके। जैन परम्परामें वीरासन आदि कठोर और पद्मासन आदि सुखासन—इन दोनोंको सुखावह कहा गया है।

संलीनता

संलीनताके चार प्रकार हैं—

१ इन्द्रिय संलीनता, इन्द्रियोंके विषयोंसे बचना। २ कषाय संलीनता, क्रोध, मान, माया और लोभसे बचना। ३ योग-संलीनता, मन, वाणी और शरीरकी प्रवृत्तिसे बचना। ४ विविक्त शयन-आसन, एकान्त स्थानमें सोना, बैठना। संलीनताकी आंशिक तुलना पतञ्जलिके प्रत्याहारसे

होती है। योगीके लिए उपशान्त वृत्ति और स्थिरता आवश्यक होती है।

इसमें चतुर्थ प्रकारमें योगी कहाँ रहें इसका निर्देश है। साधकके लिए श्मशान, शून्यागार और वृक्षमूल इन स्थानोंमें रहनेका विधान है। तपके ये छह प्रकार विषयोंमें बचनेके साधन हैं। विकार आत्माका आंतरिक दोष है। विषय आत्माका दोष नहीं है वह विकारका निमित्त है। इसलिए उससे बचना आवश्यक होता है। निमित्तोंसे बचनेके साधनोंको बाह्य तप कहनेका कारण यही है। प्रायश्चित्त आदिसे आंतरिक विकारोंका शोधन होता है इसीलिए वह आंतरिक तप कहा गया है।

प्रायश्चित्त भूलके अनुरूप होता है। इससे साधनाका पथ प्रशस्त होता है। विनयका अर्थ है—प्रथम या मौलिक साधनाका आलम्बन। उसके सात प्रकार हैं १ ज्ञानका विनय २ दर्शन सम्यक् दृष्टिका विनय, ३ चारित्रका विनय ४ मन विनय—मनका प्रशस्त प्रयोग ५ वचन विनय—वचनका प्रशस्त प्रयोग ६ काय विनय—सावधानीसे चलना खड़ा रहना बैठना सोना ७ लोकोपचार विनय—गुरुकी इच्छाका सम्मान करना उनका अनुगमन करना उनका कृतज्ञ रहना आदि।

वैयावृत्य

साधकको सहयोग देना वैयावृत्य है।

स्वाध्याय

स्वाध्याय और ध्यान ये दो परमात्म भावकी अभिव्यक्तिके अनन्य साधन हैं। योगी स्वाध्यायसे विरत हो ध्यान और ध्यानसे विरत हो स्वाध्याय करे। स्वाध्याय और ध्यानकी सम्पदासे परम आत्मा प्रकाशित होती है।

स्वाध्यायके पाँच प्रकार हैं—१ वाचना (पढ़ाना), २ पृच्छना (प्रश्न करना) ३ परिवर्तना (याद किये हुए पाठको दोहराना) ४ अनुप्रेक्षा (चिंतन) ५ धर्मकथा (धर्म चर्चा धर्म वार्ता)।

शिष्यने पूछा भन्ते ! स्वाध्यायका क्या फल है ?

भगवान्‌ने कहा स्वाध्यायसे ज्ञानावरण क्षीण होता है।

ध्यान

स्वाध्यायके पश्चात् ध्यानका क्रम है। पतंजलि ध्यानका पूर्वतत्त्व धारणा माना है। इस तपायाममें धारणा नामका कोई तत्त्व नहीं है। किन्तु जैन-परम्परामें एकाग्रमन सन्निवेशना जो है, उसकी तुलना धारणासे होती है। एकाग्रका अर्थ है कोई एक आलम्बन। उसमें मनको स्थापित करना लगाना या बाँध देना—एकाग्र मन सन्निवेशना है।

शिष्यने पूछा भन्ते ! एकाग्रमन सन्निवेशनाका क्या फल है ? भगवान ने कहा एकाग्रमन सन्निवेशनाका फल है—चित्त निरोध। यही ध्यान है। जो अध्यवसाय चल है वह चित्त है और जो स्थिर है वह ध्यान है।

ध्यानका पहला रूप है चित्तनिरोध और दूसरा रूप है शरीर वाणी और मनकी प्रवृत्तिका पूर्ण निरोध। साधनाकी दृष्टिसे ध्यानके दो प्रकार हैं—धर्म्य तथा शुक्ल।

ये दोनों आत्मलक्षी हैं। शुक्ल ध्यान पूर्वधर (विशिष्ट ज्ञानी) मुनियों के होता है। उनसे पहले धर्म्य ध्यान ही होता है। उसके चार प्रकार हैं—

१ आज्ञा विचय आगमके अनुसार सूक्ष्म पदार्थोंका चिंतन करना।

२ अपाय विचय दुःख क्या है इसका चिंतन करना।

३ विपाक विचय दुःखके परिणामोंका चिंतन करना।

४ संस्थान विचय लोक या पदार्थोंकी आकृतियों स्वरूपोंका चिन्तन करना।

आज्ञा, अपाय विपाक और संस्थान ये ध्येय हैं। जैसे स्थूल या सूक्ष्म आलम्बनपर चित्त एकाग्र किया जाता है, वैसे ही इन ध्येय विषयोंपर चित्तको एकाग्र किया जाता है। इनके चिंतनसे चित्त निरोध होता है चित्तकी शुद्धि होती है इसलिए इनका चिन्तन धर्म्य ध्यान कहलाता है।

आज्ञा विचयसे वीतराग भावकी प्राप्ति होती है। अपाय विचयसे राग द्वेष मोह और उनसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंसे मुक्ति मिलती है। विपाक विचयसे दुःख कैसे होता है? क्यों होता है? किस प्रवृत्तिका क्या परिणाम होता है? इनकी जानकारी प्राप्त होती है। संस्थान विचयसे मन अनासक्त बनता है। विश्वकी उत्पाद, व्यय और ध्रुवता जान ली जाती है उसके विविध परिणाम परिवर्तन जान लिए जाते हैं तब मनःपक्षा मय स्नेह घृणा हास्य शोक आदि विकारोंसे विरत हो जाता है।

धर्म्य ध्यान चित्त निरोध या चित्त विशुद्धिका प्रारम्भिक अभ्यास है। शुक्ल ध्यानमें यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है। मन सहज ही चंचल है। इन्द्रियाँ अपने अपने विषयको ग्रहण कर उसे प्रेरित करती हैं इसलिए उसकी चंचलता और बढ़ जाती है। वह समूचे विश्वकी परिक्रमा करने लग जाता है। ध्यानका कार्य है उस भ्रमणशील मनको शेष विषयोंसे हटा किसी एक विषयपर स्थिर कर देना।

ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है त्यों त्यों मन शान्त और निष्प्रकम्प हो जाता है। शुक्ल ध्यानके अंतिम चरणमें मनकी प्रवृत्तिका पूर्ण निरोध पूर्ण संवर या समाधि प्राप्त हो जाता है। शुक्ल ध्यानके चार प्रकार हैं—

१ पृथक्त्व वितर्क सविचारि २ एकत्व वितर्क अविचारि ३ सूक्ष्म क्रिय अप्रतिपाति ४ समुच्छिन्न क्रिय अनिवृत्ति।

पतञ्जलिने समापत्तिके चार प्रकार बतलाये हैं—१ सवितर्का, २ निर्वितर्का ३ सविचारा ४ निर्विचारा।

जैन-परम्पराके अनुसार वितर्कका अर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है। विचारका अर्थ है परिवर्तन। पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुतके अनुसार किसी एक द्रव्यका आलम्बन ले ध्यान करता है किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्यायपर स्थिर नहीं रहता। वह उसके विविध परिणामोंपर विचरण

करता है तथा शब्दसे अर्थपर और अर्थसे शब्दपर एवं मन, वाणी और शरीरमें-से एक दूसरी प्रवृत्तिपर संक्रमण करता है, नाना दृष्टिकोणोंसे उसपर चिंतन करता है। इसे पृथक्त्व वितर्क सविचारी कहा जाता है। पतंजलि शब्द, अर्थ ज्ञान आदि विकल्पोंसे संकीर्ण समापत्तिको सवितर्का माना है।

पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुतके अनुसार किसी एक द्रव्यका आलम्बन ले उसके किसी एक परिणामपर चित्तको स्थिर करता है। वह शब्द, अर्थ और मन, वाणी तथा शरीरपर संक्रमण नहीं करता। वैसा ध्यान एकत्व वितर्क अविचारी कहलाता है। पहलेमें पृथक्त्व है, इसलिए वह सविचारी है। दूसरेमें एकत्व है, इसलिए वह अविचारी है।

पहला सवात-गृहका प्रदीप है और दूसरा निर्वात-गृह का। पतंजलिने शब्द, ज्ञान आदि विकल्पोंसे शून्य अर्थात् अर्थमात्रके साक्षात्कारको निर्वितर्का समापत्ति माना है। उनके अभिमतमें सवितर्का और निर्वितर्का स्थूल पदार्थविषयक हैं, सविचारा और निर्विचारा सूक्ष्म पदार्थविषयक हैं। जैन दृष्टिके अनुसार उक्त दोनों प्रकारोंमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके पदार्थ आलम्बन बनते हैं। पतंजलि द्वारा समापत्तियोंको सबीज मानते हैं। जैन दृष्टिके अनुसार ये मोक्ष उपशमसे प्राप्त हों तो सबीज और मोहके क्षयसे प्राप्त हों तो निर्बीज होती हैं।

पृथक्त्व वितर्क-सविचारा अर्थात् भेद प्रधान ध्यानका अभ्यास दृढ़ होता है, तब एकत्व वितर्क अविचारा अर्थात् अभेद प्रधान ध्यान प्राप्त होता है। इसके अभ्याससे मोह क्षीण होता है, साथ साथ ज्ञान और दर्शनके आवरण तथा अंतराय क्षीण हो जाते हैं। आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग और अनन्त शक्ति-सम्पन्न बन जाता है। आयुष्य शेष रहता है तबतक वह योगी जीता है। उसकी मृत्यु निकट होती है, तब उसके सूक्ष्म क्रिय अप्रतिपाति ध्यान होता है। इसमें पहले मनका फिर वाणीका और फिर कायाका निरोध होता है। श्वास-जैसी सूक्ष्म क्रिया बचती है।

पश्चात् उसका भी निरोध हो जाता है। उसे समुच्छिन्न क्रिय अनिवृत्ति ध्यान कहा जाता है।

इसकी प्राप्ति होते ही मुनि पंच ह्रस्वाक्षर (अ इ उ ऋ ऌ) के उच्चारण काल तक शरीरी रहता है फिर मुक्त हो जाता है। पतंजलिके शब्दोंमें शुक्ल ध्यानके प्रथम दो भेदोंको सम्प्रज्ञात और अन्तिम दो भेदोंको असम्प्रज्ञात समाधि कहा जा सकता है।

धर्म्य ध्यानके चार लक्षण हैं—

१ आज्ञा रुचि—राग-द्वेष मोहके दूर होनेसे जो कुग्रह—मिथ्या आग्रहका अभाव होता है।

२ निसर्ग रुचि—पूर्व जन्मसे उत्पन्न सहज रुचि।

३ सूत्र रुचि—सूत्रके अध्ययनसे उत्पन्न रुचि।

४ अवगाढ़ रुचि—तत्त्वके अवगाहनसे उत्पन्न रुचि।

धर्म्य ध्यानके चार आलम्बन हैं—१ वाचना—पढ़ाना २ पृच्छना—पूछना ३ परिवर्तना—दोहराना ४ अनुप्रेक्षा—चिन्तन।

धर्म्य ध्यानकी चार अनुप्रेक्षाएं हैं—

१ एकत्वानुप्रेक्षा—मैं अकेला हूं ऐसी भावना।

२ अनित्यानुप्रेक्षा—सब संयोग अनित्य हैं ऐसी भावना।

३ अशरणानुप्रेक्षा—'दूसरा कोई त्राण नहीं है' ऐसी भावना।

४ संसारानुप्रेक्षा—'जीव संसारमें परिभ्रमण कर रहा है' ऐसी भावना।

शुक्ल ध्यानके चार लक्षण हैं—

१ अव्यथ—व्यथाका अभाव, कष्ट सहनमें अचल धैर्य।

२ असम्मोह—सूक्ष्म पदार्थ विषयक मूढ़ताका न होना, मायाजालमें न फंसना।

३ विवेक—देह और आत्माका परिपक्व भेद ज्ञान, संयोग त्याग।

४ व्युत्सर्ग—शरीर और उपकरणोंमें निर्लिप्तता।

शुक्ल-ध्यानके चार आलम्बन हैं—

१ क्षमा — सहन करना, अक्रोध।
२ मुक्ति — निर्लोभता।
३ मार्दव — निरभिमानता।
४ आर्जव — सरलता।

शुक्ल-ध्यानकी चार अनुप्रेक्षाएं हैं—

१ अनन्तवृत्ति अनुप्रेक्षा — संसार परम्परा अनादि है, ऐसी भावना।
२ विपरिणामानुप्रेक्षा — सब पदार्थ परिणमनशील हैं, ऐसी भावना।
३ अशुभानुप्रेक्षा — संसार सब प्रकार अशुभ है, ऐसी भावना।
४ अपायानुप्रेक्षा — आस्रव बन्धनके हेतु हैं, ऐसी भावना।

धर्म्य ध्यानके लिए श्रद्धा, स्वाध्याय और भावना अपेक्षित हैं। [illegible] आलम्बन और अनुप्रेक्षाएं वर्णित होती हैं। शुक्ल ध्यानके लिए आत्माके स्वभावका अवलम्बन और भावना अपेक्षित है। [illegible] आन्तरिक शान्ति प्राप्त होती है। भावनाएं बारह हैं—१ अनित्य २ अशरण ३ संसार ४ एकत्व ५ अन्यत्व ६ अशौच ७ आस्रव ८ संवर ९ निर्जरा १० धर्म ११ लोक-संस्थान और १२ बोधि। चार भावनाएं और हैं—१ मैत्री २ प्रमोद ३ करुणा ४ माध्यस्थ्य।

इनमें प्रथम चार भावनाएं धर्म्य ध्यानकी अनुप्रेक्षाएं हैं। अनन्तवृत्ति संसारानुप्रेक्षाका ही दूसरा नाम है। विपरिणामका लोक, अपायका आस्रव और अशुभका अशौच भावनामें [illegible] हो सकता है।

व्युत्सर्ग

यह योगका १२वाँ प्रकार व्युत्सर्ग है। इसका अर्थ है—देहाध्यासकी मुक्ति, शरीरकी स्थिरता।

महाव्रत और तपोयोगमें पतञ्जलिके अष्टांग योगके छह अंग समाविष्ट हैं। प्राणायाम और धारणा—ये दो शेष रहते हैं। प्राणायामके विषयमें

जैन भावना क्या है ? यह बतलाया जा चुका है।

धारणाके विषयमें कोई मतभेद नहीं है। त्राटक भी धारणाका एक अंग है। इसमें चित्त और दृष्टि दोनों एकत्र स्थित किये जाते हैं। जहाँ भगवान महावीरकी ध्यान मुद्राका उल्लेख हुआ है वहाँ उन्हें एक पुद्गल निविष्ट दृष्टि और अनिमिषनयन कहा गया है ? नासाग्र दृष्टिको भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। आचार्य हेमचन्द्रने जिनमुद्राकी विशेषता बतलाते हुए लिखा है— जिनेन्द्र ! आपकी और और विशेषताओंको सीखना तो दूर रहा पर अयत्नोचित ध्यान पर्यंकासन शिथिल शरीर और नासाग्र दृष्टिवाली आपकी मुद्रा भी नहीं सीखी। उत्तरवर्ती ग्रन्थोंमें भृकुटि कान ललाट नाभि, तालु और हृदय कमल आदि धारणाओंका वर्णन मिलता है। भगवान महावीरने साधनाका जो क्रम प्रस्तुत किया उसमें अनशन और ध्यान इन दोनोंका समन्वय था। यह साधना क्रम न केवल कष्टप्रद था और न कष्टसे पलायन कर विलासको प्रश्रय करनेका प्रयत्न था। साधकके लिए सहिष्णुता और एकाग्रता दोनों आवश्यक होते हैं। इस साधना क्रममें दोनोंका युगल था। समय परिवर्तनके साथ क्रममें परिवर्तन हो गया। ध्यानका स्थान गौण हो गया और अनशन साधनाके सिंहासनपर जा बैठा। इसीलिए अन्यान्य लोग जैन साधनाको केवल कष्टमय या अत्यन्त कठोर मानते हैं।

भगवान महावीरका साधना काल बारह वर्ष और तेरह पक्षका है। उसमें अनशन, आसन और ध्यानकी स्पर्धा सी रही है। भगवानने इस अवधिमें तीन सौ उनचास दिन भोजन पानी ग्रहण किया और उकडू आसन निषद्या—कायोत्सर्ग प्रतिमाएँ कई सौ बार स्वीकार की।

बारह बार एक रात्रिकी प्रतिमा स्वीकार की। भगवानको जब केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ तब वे उकडू आसनमें बैठे थे, दो दिनका उपवास था और ध्यानान्तरिकामें वर्तमान थे। भगवान् जब दृढ़भूमिके पेढाल ग्राममें विहार कर रहे थे, तब उन्होंने पोलास नामक चैत्यमें तीन दिनका उपवास

किया। कायोत्सर्ग शुरू की। उनका शरीर आगेको ओर कुछ झुका हुआ था। दृष्टि एक पुद्गलपर टिकी हुई थी। आँखें अनिमेष थीं। शरीर प्रणिहित था, इन्द्रियाँ गुप्त थीं। दोनों पैर सटे हुए थे और दोनों हाथ प्रलम्बित थे। इस मुद्रामें भगवानने एक रात्रिकी महाप्रतिमा की।

सानुलट्ठि ग्राममें भगवानने भद्रा महाभद्रा और सर्वतोभद्रा प्रतिमाएं कीं। पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण इन चारों दिशाओंमें चार चार पहर कायोत्सर्ग किया जाय वह भद्रा प्रतिमा है। इसकी आराधना करने वाला पहले दिन पूर्वाभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है और रातको दक्षिणाभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है। दूसरे दिन पश्चिम दिशाभिमुख और रात को उत्तराभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है। भगवानने भद्राके अनन्तर ही महाभद्रा प्रतिमा प्रारम्भ कर दी। उसमें चारों दिशाओंमें एक दिन रात कायोत्सर्ग किया जाता है। भगवानने चार दिन तक इसकी आराधना की। इसके अनन्तर सर्वतोभद्राका प्रारम्भ किया। इसमें दस दिन रात लगे। चारों दिशाओंमें चार दिन रात चारों विदिशाओंमें चार दिन रात और एक एक दिन रात ऊँची और नीची दिशाके अभिमुख हो कायोत्सर्ग किया। इस तरह सोलह दिन रात तक भगवान् सतत ध्यानरत और उपवासी रहे।

स्थानांगमें इनके अतिरिक्त सुभद्रा प्रतिमाका उल्लेख और मिलता है। उसका अर्थ आज ज्ञात नहीं है वृत्तिकार अभयदेव सूरिको भी ज्ञात नहीं था। इनके अतिरिक्त समाधि प्रतिमा उपधान प्रतिमा विवेक प्रतिमा और व्युत्सर्ग प्रतिमा क्षुल्लकमोक प्रतिमा महतीमोक प्रतिमा यवमध्या और वज्रमध्या आदि प्रतिमाओंका उल्लेख मिलता है। इनकी परम्परा लुप्त है और हृदय अज्ञात।

भगवान महावीर प्राय मौन रहते थे। आसनस्थ होकर ध्यान करते। वे ऊँची नीची और तिरछी तीनों दिशाओंमें स्थित पदार्थोंको अपना ध्येय बनाते।

योगके लिए निद्रा विजय भी आवश्यक है। भगवानने साधना कालमें केवल एक मुहूर्त भर नींद ली।

भगवान प्रहर भर तिर्यग भित्तिपर दृष्टि टिकाकर ध्यान करते थे। भगवानके शिष्योंके लिए भी ध्यान कायोत्सर्ग विशेषण प्रचुरतासे प्रयुक्त हुआ है। इतनी बड़ी परम्परा क्रम लुप्तप्राय हो गयी, यह एक अन्वेषणीय विषय है।



जैन-योग और आसन

जैन साधना-पद्धति बहुत प्राचीन है। उसके बारह अंगों (तपस्याके बारह प्रकारों) का विकास भगवान् महावीरके समयमें हो हो चुका था। पाँच संवर भी उसी समय विकसित हो चुके थे। इस पद्धतिसे शरीर विजय, श्वास विजय, मनोविजय, कषाय विजय और आत्म विजयकी अनेक प्रक्रियाओं का अभ्यास किया जाता था। इसे समयका प्रभाव ही कहना चाहिए कि वे प्रक्रियाएं आज विस्मृत-सी हो रही हैं। एक दिन मैं अपने कनिष्ठ-साधुओं को आसन आदिके बारेमें बता रहा था। उस समय एक श्रावक आया। उसने हमारी चर्चा सुनी। विषय समाप्त होनेपर बोला, क्या जैन साहित्यमें भी आसनोंकी चर्चा है? मैंने कहा, भगवान महावीर स्वयं बहुत आसन करते थे। उनके साधु भी बहुत आसन करते थे। जैन साहित्यमें आसनोंपर काफी लिखा गया था। पर परम्परा लुप्त होनेके साथ-साथ वह विस्मृत हो गया। प्रकीर्ण रूपमें आज भी काफी मिलता है। उत्तराध्ययनके कार्यकालमें उसे संकलित करने और तद् विषयक साहित्यका अध्ययन करनेका हमें अवसर मिला। वहाँ इस विषयकी विस्तारसे चर्चा की गयी है। उसका सारांश इस निबन्धमें प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैन-योगकी अनेक शाखाएं हैं—दर्शन-योग, ज्ञान-योग, चारित्र-योग, स्वाध्याय-योग, ध्यान-योग, भावना-योग, स्थान-योग और गमन-योग। यहाँ मैं केवल स्थान और गमन-योगके बारेमें ही कुछ बताना चाहूँगा।

स्थान-योग

आवश्यकनियुक्ति भाष्य (१५२) में स्थानके तीन प्रकार बतलाये गये हैं—१ ऊर्ध्व स्थान, २ निषीदन स्थान, ३ शयन स्थान। आचार्य शिवकोटिने चार प्रकारकी क्रियाओंका निर्देश किया है—१ स्थान क्रिया, २ आसन क्रिया, ३ शयन क्रिया, ४ गमन क्रिया।

स्थानका अर्थ है गतिकी निवृत्ति यानी स्थिर रहना। महर्षि पतंजलिने योगके आठ अंगोंमें तीसरा अंग आसन बतलाया है। आसनका अर्थ है—बैठना। वह खड़े, बैठे और सोते—तीनों अवस्थाओंमें किया जाता है। इसी दृष्टिसे आसनकी अपेक्षा स्थान शब्द अधिक अर्थ सूचक है।

ऊर्ध्व स्थान—खड़े रहकर किये जानेवाले स्थान ऊर्ध्व-स्थान कहलाते हैं। उनके मुख्य प्रकार सात हैं—१ साधारण—प्रमार्जित स्तम्भ आदिके सहारे निश्चल होकर खड़े रहना। २ सविचार—जहाँ स्थित हैं, वहाँसे दूसरे स्थानमें जाकर एक पहर, एक दिन आदि निश्चित काल तक निश्चल होकर खड़े रहना। ३ सन्निरुद्ध—जहाँ स्थित हो वहीं निश्चल होकर खड़े रहना। ४ व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग करना। ५ समपाद—पैरोंको समश्रेणिमें स्थापित कर (सटाकर) खड़े रहना। ६ एक पाद—एक पैरसे खड़े रहना। ७ गृद्धोड्डीन—उड़ते हुए गीधके पंखोंकी भाँति बाँहोंको फैलाकर खड़े रहना।

निषीदन स्थान—बैठकर किये जानेवाले स्थानोंको निषीदन स्थान या आसन कहा जाता है। उसके अनेक प्रकार हैं—१ निषद्या, २ वीरासन, ३ पद्मासन, ४ उत्कटिकासन, ५ गोदोहिका, ६ मकर-मुख, ७ कुक्कुटासन।

योग शास्त्रमें समसंस्थान, दुर्योधनासन, दण्ड-पद्मासन, स्वस्तिकासन, सोपाश्रय, क्रौंचनिषदन, हंस निषदन, गरुड निषदन आदिका भी उल्लेख है।

निषद्याके पाँच प्रकार हैं—१ उत्कटुका—पुतोंको ऊँचा रखकर बैठना। २ गोदोहिका—गायको दोहते समय जिस आसनमें बैठते हैं, उस आसनमें

बैठना। ३ समपादपुता — पैरों और पुतोंको मिलाकर भूमिपर बैठना।
४ पर्यंका — पद्मासन। ५ अर्द्धपर्यंका — अर्द्धपद्मासन।

बृहत् कल्पभाष्यमें निषद्याके पाँच प्रकार कुछ परिवर्तनके साथ उपलब्ध होते हैं—१ समपादपुता २ गोनिषद्यिका ३ हस्तिशुण्डिका ४ पर्यंका, ५ अर्द्धपर्यंका।

शयन स्थान — सोकर किये जानेवाले स्थानोंको शयन-स्थान कहा जाता है। आगम सूत्रोंमें उसके चार प्रकार मिलते हैं। मृतक शयन — शवासन और ऊर्ध्वशयन—ये दो प्रकार उत्तरवर्ती ग्रन्थोंमें मिलते हैं।

१ लगण्ड शयन — वक्र काष्ठकी भाँति एड़ियों और सिरको भूमिसे सटाकर शरीरको ऊपर उठाकर सोना अथवा पीठको भूमिसे सटाकर पैर शरीरको ऊपर उठाकर सोना।
२ उत्तान—सीधा लेटना।
३ अधोमुख शयन — औंधा लेटना।
४ एक पार्श्व शयन — दायीं या बायीं करवट लेटना एक पैरको सङ्कुचित कर दूसरे पैरको उसके ऊपरसे ले जाकर फैलाना और दोनों हाथोंको लम्बा कर सिरकी ओर फैलाना।
५ मृतक शयन — शवासन।
६ ऊर्ध्वशयन — ऊँचा होकर सोना।
७ धनुरासन — पेटके बल सीधा लेट दोनों पैरोंको ऊपरकी ओर उठाकर दोनों हाथोंसे उन्हें पकड़ लेना।

गमन योग

यह स्थान-योगका प्रतिपक्षी है। इसके छह प्रकार हैं—
१ अनुसूर्यगमन — तेज धूपमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर जाना।
२ प्रतिसूर्यगमन — पश्चिमसे पूर्वकी ओर जाना।
३ ऊर्ध्व सूर्यगमन — सूर्य मध्याह्नमें हो उस समय जाना।

४ तिर्यक सूर्यगमन – सूर्य तिरछा हो उस समय जाना।

५ अन्य ग्रामगमन – जहाँ अवस्थित हो, वहाँसे दूसरे गाँवमें भिक्षार्थ जाना।

६ प्रत्यागमन – दूसरे गाँवमें जाकर वापस आना।

आसनोंकी चर्चा मूलाराधना, ज्ञानार्णव योगशास्त्र यशस्तिलक, अमितगतिश्रावकाचार आदि मध्यकालीन ग्रन्थोंमें ही नहीं हुई है किन्तु भगवती स्थानांग आदि प्राचीन अंगसूत्रों तथा दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प आदि छेदसूत्रोंमें भी हुई है। आसन प्रक्रिया शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियोंसे बहुत उपयोगी है। उसे पुनर्विकसित करना हमारा हित में है।



कायोत्सर्ग और ध्यान

शरीर चंचल है और मन भी चंचल है। चंचलताको छोड़ दें तो जिया भी नहीं जा सकता। वह बहुत बढ़ जाये तब भी जीनेमें कठिनाई है। जीवनकी सफलता इसी अर्थमें है कि चंचलताके साथ स्थिरताका सन्तुलन हो। कायोत्सर्ग और ध्यान दोनों स्थिरताके रूप हैं। कायाकी स्थिरता कायोत्सर्ग है और मनकी स्थिरता ध्यान। जो व्यक्ति इन्द्रिय और मनके द्वारोंको बंदकर आत्माके सान्निध्यमें रहना चाहता है वह ध्यान, मौन और ध्यानके द्वारा अपनी प्रवृत्तियोंका विसर्जन करता है। ध्यान कायाकी प्रवृत्तिका विसर्जन कायोत्सर्ग या कायगुप्ति। मौन वाणीकी प्रवृत्तिका विसर्जन, वचनगुप्ति। ध्यान मनकी प्रवृत्तिका विसर्जन, मनोगुप्ति।

कायोत्सर्ग

कायोत्सर्गका शाब्दिक अर्थ है — शरीरका त्याग। यह हम स्पष्ट तरह जानते हैं कि जीतेजी शरीरका त्याग हो नहीं सकता। शरीर-त्याग का अर्थ है शरीरकी चंचलताका विसर्जन, शारीरिक ममत्वका विसर्जन— शरीर मेरा है इस भावनाका विसर्जन। प्रवृत्ति और ममत्व ये दोनों शरीर और मनमें तनाव उत्पन्न करते हैं। वह अनेक प्रकारकी शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न करता है।

शरीर-शास्त्रकी दृष्टिसे शरीरकी प्रवृत्ति और निवृत्तिके [illegible] इस प्रकार हैं—

प्रवृत्ति (श्रम) के परिणाम

१ स्नायुप्राय स्नायु तनाव कम होता है।
२ म वटर एमिन स्नायुप्रणाम जमा होती है।
३ एड्रिनलकी वृद्धि होनेपर उत्तेजना बढ़ती है।
४ स्नायुतन्त्र थकान पाती है।
५ रक्तमें प्राणवायुकी मात्रा कम होती है।

निवृत्ति (आराम) के परिणाम

१ एसिडका पुनः स्नायु-तन्त्रमें परिवर्तन होता है।
२ रुधिरमें एसिडका प्रभाव कम होता है।
३ रुधिरमें एसिडकी मात्रासे उत्पन्न कमी होती है।
४ स्नायुतन्त्रमें ताजगी आती है।
५ रक्तमें प्राणवायुकी मात्रा बढ़ती है।

स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी कायोत्सर्ग बहुत महत्त्वपूर्ण है।

स्नायविक तनाव और कायोत्सर्ग—इस परिस्थिति और शरीरका गहरा सम्बन्ध है। उनकी मानसिकतासे विहीन गतिकी जो अवस्था उत्पन्न होती है वही स्नायविक तनाव है। शरीर और मनकी शक्तियोंका सन्तुलन रहना, प्रवृत्तिकी बहुलता या न्यूनता, मानसिक आवेग—ये उसके मूल कारण हैं। हम जब जब द्वैधक्रिया करते हैं अर्थात् शरीरको किसी दूसरे काममें लगाते हैं और मन कहीं दूसरी ओर भटकता है तब स्नायविक तनाव बढ़ता है। हम भावक्रिया करना सीख जायें—शरीर और मनको एक ही काममें संलग्न करनेका अभ्यास कर लें तो स्नायविक तनाव बढ़नेका अवसर ही न मिले।

जो लोग इस स्नायविक तनावके शिकार होते हैं, वे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यसे वंचित रहते हैं। वे लोग अधिक भाग्यशाली हैं, जो इस तनावसे मुक्त रहते हैं।

तनाव उत्पन्न करनेमें भयका भी बड़ा हाथ है। अध्यात्मवादियों

उनके सात प्रकार बतलाये हैं—

१ इहलोक भय – मनुष्यको अपनी ही जाति—मनुष्यसे होनेवाला भय।

२ परलोक भय – मनुष्यको विजातीय—पशु आदिसे होनेवाला भय।

३ आदान भय – धन विनाशका भय।

४ अकस्मात् भय – आकस्मिक भय।

५ आजीविका भय – आजीविका कैसे चलेगा – इस प्रकारका भय।

६ मरण भय – मृत्युका भय।

७ अश्लोक भय – अपयशका भय।

ये भय मनुष्यके जीवनमें व्याप्त रहते हैं। इनके मारा वह स्नायविक तनावसे बुरी तरह आक्रान्त होकर अशान्तिमय जीवन जीता है। जिसने अभयकी आराधना की है उसे कोई कष्ट नहीं होता। भयभीत व्यक्ति पल-पलमें कष्ट पाता है। जिसने अभयकी आराधना की है वह जीवनमें एक बार मरता है। भयभीत मनुष्य एक दिनमें कई बार मरता है। भय और हिंसामें गहरा लगाव है। जहाँ भय है वहाँ निश्चित रूपसे हिंसा है। मनको भय किये बिना अहिंसा हो ही नहीं सकती।

अनियन्त्रित भयसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। मनोविज्ञानका सिद्धान्त है कि वियोगका भय जागृत होनेपर मनुष्य स्नायु-विकारसे ग्रस्त हो जाता है। वह दूसरोंपर अत्याचार करने व उन्हें रोगी बनानेमें रस लेता है।

येल विश्वविद्यालयने भयसे सम्बन्धित कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। उन्हें पढ़कर हम समझ सकते हैं कि भय हमारे शरीर और मनको कितना प्रभावित करता है। भयसे ये शारीरिक परिवर्तन देखे जाते हैं—दिलका धड़कना, नाड़ीका तेज चलना, मुँह या गला सूखना, कांपना, हथेलियोंमें पसीना आना और पेटका अन्दर धसना। मनपर भी गहरी प्रतिक्रियाएं होती हैं जैसे—विस्मृति, मूर्छा और पीड़ाकी तीव्र अनुभूति होना।

स्थानांग सूत्रमें असामयिक मृत्युके सात कारण बतलाये गये हैं। उनमें

भयात्मक अध्यवसाय उसका एक निमित्त है।

रोगके भयसे पीड़ा बढ़ जाती है। निर्भय रोगीकी अपेक्षा भयाक्रान्त रोगीको पीड़ाकी अनुभूति कई गुना अधिक होती है। मानसचिकित्सकोंने रोगपीड़ित व्यक्तियोंपर शिथिलीकरणके प्रयोग किये। उनसे उनकी पीड़ामें बहुत अन्तर आया। भयसे स्नायविक तनाव बढ़ता है, उससे पीड़ा तीव्र हो जाती है और कायोत्सर्गसे भय कम होता है, तब पीड़ा भी कम हो जाती है।

क्रोध, अभिमान, माया, लोभ, राग, द्वेष, घृणा, शोक आदि मानसिक आवेगोंसे भी स्नायविक तनाव बढ़ता है। कायोत्सर्गसे उन आवेगोंका शमन होता है और फलतः स्नायविक तनाव अपने आप दूर हो जाता है।

कायोत्सर्ग कैसे किया जाय?—कायोत्सर्ग खड़ी, बैठी और सोयी तीनों मुद्राओंमें किया जा सकता है। खड़ी मुद्रामें कायोत्सर्ग करनेकी रीति यह है कि कायोत्सर्ग करनेवाला दोनों हाथोंको घुटनोंकी ओर लटका दे, उन्हें ढीला छोड़ दे। पैरोंको सम रेखामें रखे और दोनों पंजोंमें चार अंगुलका अन्तर रखे। शेष सारे अंगोंको स्थिर रखे और शिथिल करे। किसी भी अंगमें तनाव न रखे।

बैठी मुद्रामें कायोत्सर्ग करनेवाला पद्मासन या सुखासनमें बैठे। हाथोंको या तो घुटनोंपर टिकाये या बायीं हथेलीपर दायीं हथेली रखकर अंकमें रखे। सब अंगोंको स्थिर और शिथिल बना ले।

सोयी मुद्रामें कायोत्सर्ग करनेवाला पहले सीधा लेट जाये। सिरसे लेकर पैर तकके अवयवोंको पहले तान फिर क्रमशः उन्हें शिथिल करे। हाथों तथा पैरोंको परस्पर सटाये हुए न रखे। श्वास उच्छ्वास समभावसे ले किन्तु लम्बा ले। मनको श्वास उच्छ्वासमें लगा एकाग्र या विचार शून्य हो जाय।

मनको शान्त व स्थिर करनेके लिए शरीरको शिथिल करना बहुत आवश्यक है। प्रयत्नसे चंचलता बढ़ती है। स्थिरता अप्रयत्नसे आती है।

शरीर उतना शिथिल होना चाहिए जितना किया जा सके। यह प्रतिदिन आध घण्टा शिथिल हो सके तो मन अपने आप शान्त होने लगता है। शिथिलीकरणके समय मन पूरा खाली रहे — कोई चिंतन न हो जप भी न हो। यह न हो सके तो अ अर्हम् जैसे किसी शब्दका ऐसा प्रवाह हो कि बीचमें कोई दूसरा विकल्प न आये। श्वासकी गिनती करनेसे यह स्थिति सहज ही बन जाती है।

कायोत्सर्गका कालमान—कायोत्सर्गकी प्रक्रिया कष्टप्रद नहीं है। उससे शारीरिक विश्रान्ति और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। इसलिए वह चाहे जितने लम्बे समय तक किया जा सकता है। कमसे कम पन्द्रह बीस मिनिट तो करना ही चाहिए। कायोत्सर्गमें मनको श्वासमें लगाया जाता है इसलिए उसका कालमान श्वासकी गिनतीसे भी किया जा सकता है, जैसे सौ श्वासोच्छ्वासका कायोत्सर्ग दो सौ तीन सौ पाँच सौ, हजार श्वासोच्छ्वासका कायोत्सर्ग आदि आदि।

कायोत्सर्गका फल—कायोत्सर्गका मुख्य फल है — आत्माका सान्निध्य प्राप्त करना। उसका गौण फल है—मानसिक संतुलन बौद्धिक विकास और शारीरिक स्वच्छता। मानसिक स्वच्छता, स्नायुतनाव व कष्टसे उत्पन्न रोगोंके लिए यह अमूल्य रसायन है।

आचार्य भद्रबाहुने कायोत्सर्गके पाँच फल बताये हैं—

१ दैहिक जड़ताकी शुद्धि—श्लेष्म आदिके द्वारा देहमें जड़ता आती है। कायोत्सर्गसे श्लेष्म आदि दोष मिट जाते हैं। अतः उनसे उत्पन्न होने वाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है।

२ बौद्धिक जड़ताकी शुद्धि — कायोत्सर्गमें चित्त एकाग्र होता है। उससे बौद्धिक जड़ता नष्ट हो जाती है।

३ सुख दुःख तितिक्षा — सुख दुःख सहनेकी शक्ति प्राप्त होती है।

४ शुद्ध भावनाका अभ्यास होता है।

५ ध्यानकी योग्यता प्राप्त होती है।

ध्यान

चेतनाके दो रूप हैं — चल और स्थिर। चल चेतनाको चित्त और स्थिर चेतनाको ध्यान कहा जाता है। स्थिरताके भी दो रूप बनते हैं—एकाग्रता और निरोध।

एक वस्तुमें चित्तको संलग्न करनेका नाम एकाग्रता और उसे सर्वथा चिंतन शून्य करनेका नाम निरोध है। चित्तकी एकाग्रता और चित्तका निरोध ये दोनों ध्यान कहलाते हैं।

ध्यानकी विधि—ध्यान करनेसे पहले शरीरको स्थिर करें। वह बिलकुल न हिले डुले। फिर दो तीन मिनिट उसे सूचना दें कि वह शिथिल हो रहा है। फिर यह सूचना दें कि श्वास शिथिल हो रहा है। शरीर और श्वास दोनों शिथिल हो जायें तब यह सूचना दें कि मन शिथिल हो रहा है। जब मन शिथिल हो रहा हो, उस समय या तो चिंतन सर्वथा बन्द कर दें। वैसा न कर सकें तो अर्हन् सिद्ध आदि जो भी इष्ट हो उस शब्दका जाप कर उसके अर्थपर मनको एकाग्र करें। जो ध्येय है उसे प्रत्यक्ष देखनेका प्रयत्न करें। जपमें मन्त्रकी पुनरावृत्ति की जाती है। किन्तु ध्यानमें उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जाती, उसके अर्थको प्रत्यक्ष करनेका अभ्यास किया जाता है।

शिवदत्त राजाका मन्त्री था। उसे बहुत सम्मान प्राप्त था। एक दिन राजाको उसपर सन्देह हो गया। उसे मन्त्री पदसे हटा दिया। सारी सम्पत्ति छीन ली। अब वह धन और सम्मान दोनोंसे दरिद्र हो गया। अपने कुटुम्बको लेकर वह वहाँसे चल पड़ा। मार्गमें एक मुनि मिले। वे ध्यान मुद्रामें खड़े थे। मन्त्रीने उन्हें वन्दना की। मुनिने ध्यान पूर्ण किया। मन्त्रीने पूछा गुरुदेव! संचित कर्म क्षीण हों, वैसा उपाय बतलाइए। मुनिने कहा दृढ़ निश्चयके बिना वैसा उपाय हाथ नहीं लगता। मन्त्री बोला गुरुदेव! कर्मका विपाक देख चुका हूँ। क्या अब भी दृढ़ निश्चय नहीं होगा? मुनिने उसकी प्रबल इच्छा देखी और कहा,

ध्यानमें सब दुःख दूर हो जाते हैं। पर यह कैसे किया जाय भगवन्!—भक्तोंने पूछा। मुनिने कहा, ध्यान करनेवाला पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके बैठे। आँखें या तो मुँदी हुई हों या अधखुली। यदि खुली हों तो मानसिक कल्पनासे उन्हें नासाग्रपर केंद्रित किया जाय।

ध्यान कालमें आसन कष्टदायी नहीं किन्तु सुखासन होना चाहिए। ध्यानके लिए सामान्यतः पद्मासन, पर्यकासन, कायोत्सर्गासन आदि आसन सुझाये गये हैं। किन्तु ये ही आसन होने चाहिए ऐसा आग्रह नहीं है। आचार्य शुभचन्द्रने लिखा है — जिस आसनमें बैठनेपर मन निश्चल हो, वही आसन करणीय है।

येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यात् मुनिभिर्बन्धुरासनम्॥ (ज्ञानार्णव)

ध्यानका फल—इसे स्पष्ट करनेके लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—पुरानी समयकी बात है। मगध देशमें दवरापुर नामका नगर था। वहाँ दो मित्र थे। एकका नाम राम था। वह बनियेका बेटा था। दूसरेका नाम था नागदत्त। वह ब्राह्मणका बेटा था। उन दोनोंमें बहुत प्रेम था। वे सुखसे रह रहे थे। एक दिन वहाँ राज्य विद्रोह हो गया। चारों ओर लूट मच गयी। तब ये दोनों वहाँसे दौड़े और दक्षिणापथकी ओर चले गये। एक बार वे दोनों काठ लानेके लिए जंगल गये। वहाँ महाबल नामक साधु कायोत्सर्ग मुद्रामें खड़े थे। ध्यानस्थ होनेके कारण वे पत्थरकी भाँति अडोल थे। उन्होंने साधुको देखा। यह जीवनमें पहला ही अवसर था। वे उन्हें अपलक देखते रहे। थोड़ी देर बाद एक बड़ा सा साँप बिलमें-से निकला और सीधे साधुके पास जा पहुँचा। उन्हें डस वापस बिलमें घुस गया। साधु अब भी वैसे ही खड़े थे। ध्यानसे ज़रा भी विचलित नहीं हुए। उनके शरीरमें विष भी नहीं व्यापा। राम और नागदत्तको बहुत आश्चर्य हुआ। साधुने कायोत्सर्ग पूर्ण किया। वे साधुके पास गये वन्दना की और बोले—भगवन्! साँपने आपको काटा—

तो आपपर उसका असर नहीं हुआ ? आप इस प्रकार कायोत्सर्गमें रहते हैं क्या आपको सर्दी गरमीका कष्ट नहीं होता ? साधुने कहा महानुभावो ! जो ध्यान कोष्ठमें स्थित होता है वह बाहरी स्थितिसे प्रभावित नहीं होता। सर्दी गरमी आदिसे बाधित नहीं होता। यह मेरा अनुभव है।

इस ध्यान कोष्ठमें शीत लहरका कोई असर नहीं होता और न दवदाहसे उत्पन्न अग्नि भी अपना प्रभाव दिखा पाती है। भयंकर कोलाहल वहाँ बाधा नहीं डाल सकता और साँप आदि विषैले जन्तु वहाँ पीड़ा उत्पन्न नहीं कर सकते। इन शारीरिक कष्टोंकी क्या बात करते हो तुम ? वहाँ मानसिक कष्ट भी नहीं पहुंच पाते हैं ? ईर्ष्या विषाद, शोक आदि जितने मानसिक कष्ट हैं वे सब ध्यानलीन व्यक्तिके सामने निर्वीर्य बन जाते हैं।



मनकी दो अवस्थाएं होती हैं—चलात्मक और स्थिरात्मक। चला-त्मक अवस्थाको मन और स्थिरात्मक अवस्थाको ध्यान कहा जाता है। ध्यान करते समय मन संकल्पोंसे भर जाता है। एक-एक कर पुरानी स्मृतियाँ उभरने लग जाती हैं। सहज प्रश्न होता है इसका क्या कारण है? जब मनकी प्रवृत्ति होती है तब उसकी चंचलता नहीं होती जितनी उसको स्थिर करनेका प्रयत्न करनेपर होती है। [illegible] गहराईमें जायें तो पायेंगे कि चेतना चंचल नहीं होती। मन चेतनाका एक अंश है वह स्वयं कैसे चंचल हो सकता है। वह वृत्तियोंके कारण चंचल होता है। वृत्तियोंका जितना ज्वार होता है उतना ही वह चंचल होता है और वृत्तियाँ जितनी शान्त या क्षीण होती हैं उतना ही वह स्थिर होता है यानी ध्यान होता है। तालाबका जल स्थिर पड़ा है। उसमें एक ढेला फेंका और वह चंचल हो गया। यह चंचलता स्वाभाविक नहीं किन्तु बाहरके संपर्कसे उत्पन्न है। ठीक इसी प्रकार मनकी चंचलता भी स्वाभाविक नहीं किन्तु वृत्तियोंके संपर्कसे उत्पन्न होती है। मनकी चंचलता एक परिणाम है। वह हेतु नहीं है। उसका हेतु है — वृत्तियोंका जागरण।

वृत्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं — सत् और असत्। असत्से सत्की ओर जाना पहला चरण है और दूसरा चरण है असत्का त्याग करना। असत्में मन चंचल रहता है सत्में शान्त और असत्को क्षीण करनेपर वह अतिमान शान्त हो जाता है। इस सारी प्रक्रियाको मनोगुप्ति कहा जाता है। गुप्त मनकी तीन अवस्थाएँ हैं — १ कल्पना विमुक्त २ समत्व

प्रतिष्ठित, ३ आत्माराम।

विमुक्तं कल्पनाजालं, समत्वेषु प्रतिष्ठितम्।
आत्मारामं मनश्चेति, मनोगुप्तिस्त्रिधोदिता॥

कल्पनाविमुक्त मनको एक साथ खाली नहीं किया जा सकता। उसे इतर कल्पनाओंसे मुक्त करनेके लिए सत् कल्पनाओंका आलम्बन लिया जाता है। इन कल्पनाओंका विशद वर्णन प्राचीन साहित्यमें मिलता है।

कल्पना करें कि हृदय कमल है। उसके चार पत्र हैं। बीचमें एक कर्णिका है। चार पत्रों और कर्णिकापर क्रमशः अ, सि, आ, उ, सा लिखा हुआ है। प्रत्येक अक्षर ज्योतिर्मय है और वह प्रदक्षिणा करता हुआ घूम रहा है। यह कल्पना पुष्ट होगी तो दूसरी कल्पनाएँ अपने आप विलीन हो जायँगी।

■ नासाग्र, दो आँख, दो कान और एक मुख — ये सात स्थान हैं इनपर क्रमशः ण मो अ रि हं ता णं — इस मन्त्रपदके अक्षरोंका ध्यान किया जाय। वर्ण और स्थानके ध्यान साथ साथ हों। इससे शेष कल्पनाओंसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार सैकड़ों उपाय साधना लम्बी परम्परामें प्राप्त होते हैं।

समत्व प्रतिष्ठित वृत्तियाँ दबी रहती हैं। वे निमित्तका योग पा उत्तेजित होती हैं और उभर आती हैं। उनकी उत्तेजनाका बहुत बड़ा निमित्त है विषमता। जब जब मनमें विषमताके भाव आते हैं तब-तब वह चञ्चल अधीर और विक्षिप्त हो जाता है। अमुक व्यक्तिने मेरा सम्मान किया है और अमुकने अपमान। सम्मान और अपमानकी स्मृति होते ही मन चंचल हो उठता है। किन्तु जिसका मन सम्मान और अपमान दोनोंको ग्रहण नहीं करता तथा दोनोंको आत्मासे बाह्य मानता है उसका मन समतामें प्रतिष्ठित रहता है। उसे सम्मान और अपमानकी स्मृति ही नहीं होती तब वह उनके कारण चंचल, अधीर या अशान्त कैसे हो

सकता है? इस प्रकार रागद्वेषजनित जितनी विषमताएँ हैं, उनका ग्रहण नहीं करनेवाला मन समतामें प्रतिष्ठित होता है।

आत्माराम : यह शुद्ध मनकी तीसरी अवस्था है। इसमें चेतनाके अतिरिक्त कोई बाह्य आलम्बन नहीं होता। मन आत्मामें विलीन हो जाता है। वह कषाय (बाहरी रंग) से मुक्त होकर शुद्धोपयोग (शुद्ध चेतना) में परिणत हो जाता है। इस स्थितिको इन शब्दोंमें भी समझाया जा सकता है कि यहाँ शुद्ध चेतनासे भिन्न मनका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

ध्यान और शून्यता : ध्यान अवस्था शून्य अवस्था है, किन्तु इस शब्दको अनेकान्तकी भाषामें समझना चाहिए। ध्यानमें जितनी बाह्य विकल्पोंकी शून्यता होती है उतनी ही आत्मिक जागरूकता बढ़ जाती है। इसीलिए आत्मा शून्याशून्य स्वभाव है। प्रश्न उठता है कि यदि मनको शून्य करना ही ध्यान है तो फिर नींद भी ध्यान है। नींदमें आन्तरिक जागरूकता नहीं रहती। वह स्वयं एक वृत्ति है, इसलिए वह ध्यान नहीं है। विचार शून्यता भी ध्यान नहीं है। उसे ध्यान माना जाय तो मूर्च्छाको भी ध्यान मानना होगा और वह ध्यान नहीं है। वहाँ चेतनाकी विस्मृति है। ध्यान वह होता है जहाँ चेतनाकी जागृति हो।

ध्यान तदात्मकता : ध्यान करनेवालेको तदात्मक होनेका अभ्यास डालना चाहिए अर्थात् जिसका ध्यान करे उसके साथ तदात्मकता स्थापित करना चाहिए। क्रियाके साथ भी तदात्मकता हो तो वह भी ध्यान हो जाता है। जो बोले उसमें मनका योग साथ रहे तो वह बोलना भी ध्यान है। जो करे उसमें मनका योग साथ रहे तो वह करना भी ध्यान है। तन्मयतासे जो किया जाता है वह सब फलदायी होता है। ध्यान करनेवाला ध्येयकी सम्प्राप्तिके लिए अपने शरीर व मनको शून्य बना लेता है। ऐसा करनेपर ध्येय और ध्यातामें एकात्मकता हो जाती है। इसीको योगशास्त्रके आचार्योंने एकीकरण, समरसीभाव, समापत्ति या समाधि कहा है।

ध्यानकी सफलताके लिए चार कारणोंपर ध्यान देना चाहिए—

१ गुरूपदेश — ऐसे गुरुसे मार्गदर्शन लेना चाहिए, जो अनुभवी हो। २ श्रद्धा — अपनी क्रियाके प्रति आत्मामें दृढ़ विश्वास होना चाहिए। प्रक्रिया ठीक होगी तो अवश्य परिणाम लायगी, ऐसी निष्ठा होनी चाहिए। ३ सतत अभ्यास — आज किया कल नहीं ऐसी अनियमितता नहीं होनी चाहिए। अभ्यास सतत करना चाहिए। ४ मनकी एकाग्रताका दृढ़ अभ्यास होना चाहिए।



जीवनव्यापी महत्त्व है। कोरे ज्ञानकी पढ़ाई भार ढोने-जैसा है। भार हर कोई ढो सकता है।

जहा खरो चंदण भारवाही भारस्स भागी न हु चंदणस्स

त्रिपदी आराधनाके साथ दर्शन श्रद्धा और आचारकी आराधना अपेक्षित है। ऐसा लगता है आज ज्ञानकी आराधनासे भी दर्शनकी आराधना अत्यावश्यक है। श्रद्धाकी शृंखला टूट गयी है। मनुष्यका अपनेपर भी विश्वास नहीं है। इसीका ही परिणाम है कि अनुशासनहीनता उच्छृंखलता और मानसिक अस्थिरता बढ़ रही है। इससे मुक्ति पानेके लिए श्रद्धा और एकाग्रता परम अपेक्षित है।



भाव क्रिया और अनावेग

"सुत्ता अमुणिणो मुणिणो सया जागरंति"

जो मुनि नहीं होते वे सदा सोते रहते हैं और मुनि सदा जागते रहते हैं। यह सतत जागरण ही भाव क्रिया है।

प्रत्येक प्रवृत्तिके तीन साधन हैं—मन, वाणी और शरीर। इनमें एक चेतन और दो जड़ हैं। वाणी और शरीरकी प्रवृत्तिमें मन साथ रहे तो वह सजीव बन जाती है अन्यथा वह निर्जीव सी होती है। साधककी प्रत्येक प्रवृत्ति भाव क्रियात्मक होना चाहिए। हम चलें तो हमारा मन चलनेमें लगे, हम बैठें तो हमारा मन बैठनेमें रहे। इसी प्रकार खायें तो खानेमें बोलें तो बोलनेमें और जो कुछ भी काम करें उसमें मन बराबर साथ दे। 'उत्तराध्ययन' में चलनेकी विधि बतलायी है वह भाव क्रिया है। वहां कहा गया है जब तुम चलो तब मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटा लो स्वाध्यायसे हटा लो। एकमात्र चलनेको ही सामने रखो। चलनेमें ही मनको केन्द्रित कर चलो[1]। इस क्रियामें शक्ति लगानेसे वह निखर जाती है अन्यथा वह बिखर जाती है।[2]

जो करो वह तन्मय होकर करो चित्तको वहीं लगाओ। इन्द्रियोंको वहीं नियोजित करो अध्यवसाय वैसा ही बनाओ। उसके लिए समर्पित

---

१ इंदियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते इरियं रिए ॥ उत्तराध्ययन २४।८।

२ तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे।
तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए ॥ अनुयोगद्वार २८।

हो जाओ, उसीमें तन्मय हो जाओ। तुम्हारी क्रिया भाव क्रिया होगी, सजीव क्रिया होगी। अन्यथा तुम द्रव्य क्रिया—निर्जीव क्रियासे विपरीत रहोगे। क्रियाके साथ मनका तादात्म्य होनेसे भाव क्रिया बन जाती है। इसीलिए आचार्य हरिभद्रने सभी क्रियाओंको योग माना है। अप्रमत्त मुनि जो एक क्षणके लिए भी प्रमाद नहीं करता, की तरह सतत जागरूक रहना कठिन है फिर भी भाव-क्रिया आवश्यक है। इससे चंचल चित्त वृत्तियोंको रोकनेका एक साधन है। हमारा अधिक समय भूत और भविष्य में जाता है। हम वर्तमानमें रहना सीखें। भोजन करते समय अतीतकी याद और भावीकी योजना निरन्तर घूमता है। वर्तमानमें रहना ही भाव क्रिया है और वह साधनाकी आधारशिला है।

अनावेश आवेशमें मनुष्य अपनेको परिस्थितिके हाथमें सौंप देता है। एक व्यक्ति पहले आवेशमें नहीं आता पर दूसरेके कुछ कहनेपर आवेशसे अपनेको बचा भी नहीं पाता। आवेशको निर्दोष बताते हुए कहता है—मैंने पहले आवेश नहीं किया। क्या पीछे किया वह आवेश नहीं है? केवल समयका अन्तर रहा, आवेश तो है ही। पहले आवेशमें न आना अच्छा है पर पीछे भी न करना क्या हानिप्रद है। जैसेको वैसा करनेकी प्रवृत्ति मानवीय दुर्बलताके कारण सहज लगती है। पर साधक साधनाका पथ पकड़ कर चलता है इसलिए उसे रोकनेका अभ्यास करना चाहिए। अभ्यासके साधन ये हैं—१ कोई अप्रिय बात कहे तो उसका तत्काल उत्तर न दें। आवेशसे रक्तमें उत्तेजना आती है, उससे गरमी बढ़ती है इसलिए उस समय श्वासको बन्द कर लेना चाहिए। २ उत्तर देनेपर नियंत्रण न हो सके तो वहांसे तत्काल उठकर अन्यत्र चला जाना चाहिए।

यह विश्वास लेकर चलना भूल है कि—

> आँको पड़्यो स्वभाव, न छूटे जीव स्यूँ।
> नीम न मीठो होय सींचो गुड़ घीव स्यूँ॥

यदि यह विचार हो तो चरित्र क्यों लिया जाता है। चरित्रका अर्थ है—स्वभाव परिवर्तन। भावना इसलिए की जाती है कि उससे स्वभावमें परिवर्तन आता है। स्वभावमें परिवर्तन न आए तो भावनाका कोई मूल्य नहीं है। चरित्रमें दृढ़ आस्था होनेसे स्वभावमें परिवर्तन अवश्य आता है।



मोह व्यूह

पुराने ज़मानेमें युद्धके प्रांगणमें व्यूहकी रचना की जाती थी जैसे शकट व्यूह, गरुड़ व्यूह आदि-आदि। वे दुर्जेय या अजेय होते थे। उन्हें तोड़े बिना शत्रुकी सेना आगे नहीं बढ़ सकती थी। साधना भी एक युद्ध है। उसका प्रतिपक्षी है मोह। उसकी व्यूह रचना बड़ी विकट है। उसे तोड़े बिना कोई साधक आगे नहीं बढ़ सकता। उसे तोड़नेसे पहले उसकी व्यूह रचनाको समझना होता है।

कल्पना कीजिए—मोह एक राज्याध्यक्ष है और मिथ्यादर्शन उसका प्रधान मंत्री। उसके दो पुत्र हैं ममकार और अहंकार, ये दोनों सेनापति हैं। जो आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं उनमें आत्मीयताका अभिनिवेश होता है वह ममकार है। जैसे — मेरा मकान, मेरा बेटा, मेरा परिवार, मेरा मित्र आदि-आदि। यह मोह व्यूहका प्रबल रक्षक है। कर्म जनित अवस्थाओंमें अपना आरोप करना अहंकार है। जैसे मैं धनवान हूँ, मैं अधिकारी हूँ आदि-आदि।

आत्मा निरुपाधि है। उसके पीछे कोई उपाधि नहीं है। वह न किसीसे छोटा है और न किसीसे बड़ा। उसमें छोटे-बड़ेका भेद नहीं है। वह न किसीका सेवक है और न किसीका स्वामी। उसमें स्वामी-सेवकका भेद नहीं है। छोटा-बड़ा, स्वामी-सेवक ये सारी उपाधियां हैं। जितनी उपाधियां हैं वे सब बंधनमें से निकलती हैं। मुक्तिमेंसे कोई उपाधि नहीं निकलती। पूर्णताकी ओर बढ़नेवाला कोई उपाधि नहीं चाहता। उपाधि चाहनेवाला हमेशा अपूर्णताकी ओर बढ़ता है। अहंकार उसे

मोह-व्यूहको तोड़कर आगे न जाने देगा। ममकार और अहंकारसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। जिन वस्तु और व्यक्तियोंका ममकार होता है उनमें उनका राग उत्पन्न होता है। जिन अवस्थाओंके प्रति अहंकारकी मान्यता होती है उनमें भी राग होता है। ममकार और अहंकारमें बाधा डालनेवालेके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। इस प्रकार ममकार और अहंकारसे राग और द्वेषकी सृष्टि होती है।

राग और द्वेषसे कषायकी उत्पत्ति होती है। कषायें चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। रागात्मक भावनासे माया और लोभ उत्पन्न होते हैं। द्वेषात्मक भावनासे क्रोध और अभिमान उत्पन्न होते हैं। इन कषायोंसे नोकषायकी सृष्टि होती है—भय, शोक, घृणा, विकार आदि उत्पन्न होते हैं। इन आन्तरिक प्रकम्पनोंसे मन, वचन और शरीर प्रवृत्त होते हैं। प्रवृत्तिसे हिंसा आदि दोष उत्पन्न होते हैं। उनसे बन्धन होता है। बन्धनसे पुनर्जन्म होता है। शरीरकी रचना होती है। इन्द्रियोंका निर्माण होता है। इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है। उनमें राग और द्वेष होता है। राग-द्वेषसे बन्धन और बन्धनसे फिर जन्म—इस प्रकार यह व्यूह चलता जाता है। इसका कभी अन्त नहीं होता।

हम जबतक मान्यताओंमें जकड़े रहते हैं तबतक मोहका गढ़ नहीं टूटेगा। वह तब टूटेगा जब हम व्यवहारसे ऊपर उठकर निश्चयके जगत्‌में प्रवेश पायेंगे। वहाँ हमारा ज्ञान मिथ्या नहीं होता। मिथ्याज्ञानसे मिथ्याज्ञानका आवरण नहीं फट सकता। किसी सम्राटकी बात है—एक राजाने एक संन्यासीको निमन्त्रित किया। संन्यासी महलमें पहुँचा तो उसने देखा—उसके मार्गमें बहुत बढ़िया कालीन बिछाये गये हैं। वह अपने मार्गसे थोड़ा हटा और पासके गड्ढेमें जा गिरा। सैनिकोंने हाथ पकड़ उसे बाहर निकाल लिया। उसके पैर कीचड़में सन गये। लोगोंके अनुरोध करनेपर भी उसने पैर नहीं धोये। वह कीचड़से सने पैरोंसे ही कालीनपर चलने लगा। राजाने यह देखा तो उससे रहा नहीं गया। वह संन्यासीके

पास आया और बोला — महाराज! यह क्या कर रहे हैं? राजा बोला, राजाके अहंकारको चूर कर रहा हूँ। राजाने मुस्कानके साथ कहा महाराज! क्या अहंकारसे अहंकारको चूर किया जा सकता है?

अहंकारसे अहंकारको चूर नहीं किया जा सकता तो मिथ्याज्ञानसे मिथ्याज्ञानको कैसे हटाया जा सकता है? मोह व्यूहको तोड़नेका सबसे पहला उपाय है—सम्यग्ज्ञान। हमारा ज्ञान सम्यक् हो, दर्शन सम्यक् हो, मान्यताएं सम्यक् हों और धारणाएं सम्यक् हों तभी हम ममकार और अहंकारको सु[illegible] नियंत्रित कर सकते हैं। इसपर नियंत्रण पा लेनेके बाद हम उन पदार्थोंको अपना नहीं मानेंगे, जो आत्मासे भिन्न हैं। हम उन अवस्थाओंमें अहंका आरोप नहीं करेंगे जो आत्माकी अपनी नहीं हैं। इतना होनेपर राग-द्वेष कषाय आदि सब मुरझाने लगेंगे जैसे मूलमें जलका सिंचन किये बिना पुष्प कुम्हला जाते हैं। उनके मुरझा जानेसे मन अपने आप एकाग्र स्थिर या निरुद्ध हो जाता है। इसीको हम ध्यान कहते हैं। ध्यान हठयोगसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है। उसकी प्राप्ति अन्तःस्तलकी शुद्धिसे होती है। जैसे-जैसे ध्यान शक्तिशाली बनता है, वैसे-वैसे मोह-व्यूह छिन्न भिन्न होता जाता है। एक दिन ध्यान उस केन्द्र बिन्दुपर पहुँच जाता है कि उसकी अजेय शक्तिसे पराजित होकर मोहका व्यूह पूर्णरूपेण टूट जाता है।

• •

आवेग और उप-आवेग

मानसिक आवेग एवं उप-आवेग आठ प्रकार के हैं। आवेग चार हैं—१ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४ लोभ। ये अपनी-अपनी मात्राके अनुसार मनको प्रभावित करते हैं। मात्राके अनुसार ये प्रत्येक चार भागोंमें विभक्त होते हैं—१ मन्द, २ तीव्र, ३ तीव्रतर, ४ तीव्रतम।

तीव्रतम क्रोध आदि व्यक्तिके सम्यक् दृष्टिकोणको विकृत कर देते हैं। तीव्रतर क्रोध आदि आत्म-नियन्त्रणकी शक्तिको छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। तीव्र क्रोध आदि आत्म-नियन्त्रणकी शक्तिके उपक्रम विकासमें बाधक होते हैं। मन्द क्रोध आदि व्यक्तिको पूर्ण वीतराग नहीं होने देते।

भय, शोक, घृणा, हास्य, रति, अरति और काम-विकार—ये उप-आवेग हैं। ये भी व्यक्तिके आचरणको बहुत प्रभावित करते हैं। क्रोध आदिकी शक्ति तीव्र होती है इसलिए वे आवेग हैं। वे व्यक्तिके शारीरिक और मानसिक स्थितिको प्रभावित करनेके अतिरिक्त उसके आन्तरिक गुणों—सम्यक् दृष्टिकोण और आत्म-नियन्त्रणको भी प्रभावित करते हैं। भय आदि उप-आवेग व्यक्तिके आन्तरिक गुणोंको उतना प्रत्यक्षतः प्रभावित नहीं करते जितना शारीरिक और मानसिक स्थितिको करते हैं। उनकी शक्ति अपेक्षाकृत कम होती है इसलिए वे उप-आवेग हैं। आन्तरिक गुण में होनेवाला प्रभाव बहुत सूक्ष्म होता है अतः वह सहजभावसे पहचाना नहीं जाता। आवेगों और उप-आवेगोंका शरीर और मनपर जो प्रभाव होता है, उसकी जानकारी हमें चिकित्सा-शास्त्रकी पुरानी और नयी

सभी भाषाओंके साहित्य द्वारा प्राप्त होती है। योग शास्त्रमें भी इसकी चरचा मिलती है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

मानसिक चिन्ता निराशा भय काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि मानसिक आवेगोंसे हृदय रोग उत्पन्न होता है। भय चिन्ता क्रोध मद मोह मात्सर्य आदि मानसिक आवेगोंसे पुरुषत्व दोष पतला हो जाता है और स्नायु रक्तविकारका रोग उत्पन्न होता है। मानसिक चिन्ता अशान्ति, उद्विग्नता और क्षोभके कारण श्वास रोग उत्पन्न होता है। ईर्ष्या और द्वेष यकृत और तिल्लीको प्रभावित करते हैं। क्रोध और घृणासे गुर्दे विकृत होते हैं तथा रक्त पतला बनता है। चिन्ता और उदासीनतासे फेफड़े दुर्बल होते हैं मस्तिष्क विकृत और रक्त दूषित होता है। विषय-वासनाकी प्रबलतासे वीर्य विकार—प्रमेह आदि उत्पन्न होते हैं। ईर्ष्या भय, क्रोध लोभ, दम्भ द्वेष आदि मनोविकारोंकी दशामें खाये अन्नका अच्छा समुचित परिपाक नहीं होता।

इसकी उत्पत्तिका कारण यह है कि ये मानसिक आवेग शरीरकी रोग प्रतिरोधक-शक्तिको नष्ट कर डालते हैं। हमारे शरीरमें दो पाचक रस रहते हैं—एक लवणाम्ल – हायड्रोक्लोरिक एसिड और पेप्सीन।

द्वेष, ईर्ष्या भय शोक क्लेश निन्दा घृणा आदि मानसिक आवेगोंसे प्रभावित अवस्थामें पाचक रस अल्प मात्रामें बनते हैं। इसलिए शरीर और मन शक्तिहीन हो जाते हैं।

चिन्ता शोक, भय क्रोध, काम आदिसे अरुचि और अजीर्ण रोग होता है—

> "वातादिभि शोकभयातिलोभ क्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धैः ॥
> अरोचका स्युः । (चरक चिकित्सा स्थान
> – १२६।१२४)

"नाप्रवाप्यस्वस्थवृत्त पथ्य पार्थ न जीवति ।
धियारोग्यमथ [illegible] समग्रमाग्नाः ॥"

(चरकनुशिषार – २)

विदा आन्ति आमाशयिक भाव कम होता है और उससे नष्ट हो जाता है। इसका आजन प्रवृत्तिजन्य है। जहाँ प्रवृत्ति होती है वहाँ वेग होता है। वह दो प्रकारका होता है—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक वेग तेरह प्रकारके हैं—१ वात (अधोवात अपान) मल, मूत्र छींक प्यास भूख निद्रा खांसी थकान जम्हाई अश्रु वमन और शुक्र। इनको धारण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं इसलिए इनका निषेध है।[1]

शारीरिक वेगोंको धारण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं और मानसिक वेगोंको धारण न करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए उनके निरोधका विधान है कहा है—इस लोकमें और परलोकमें हित चाहनेवाला व्यक्ति जितेन्द्रिय होकर लोभ ईर्ष्या द्वेष मात्सर्य राग आदि वेगोंका निरोध करे।[2]

एलोपैथीमें रोगके प्रधान हेतु कीटाणु हैं। होम्योपैथीका सिद्धान्त इससे भिन्न है। इसके अनुसार उसका मूल मनमें भी माना है। आयुर्वेदमें रोग चार प्रकारके माने गए हैं—१ आगन्तुक २ शारीरिक ३ मानसिक ४ स्वाभाविक।[3]

---

१ वेगान्न धारयेद् वात विण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम्।
निद्राकासश्रमश्वासजृम्भाश्रुच्छर्दिरेतसाम्॥ अष्टांगहृदय सूत्र स्थान ४।१

२ धारयेत्तु सदा वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च।
लोभेर्ष्याद्वेषमात्सर्यरागादीनां जितेन्द्रियः॥ अष्टांगहृदय सूत्र ४।२४

३ सुश्रुत सूत्रस्थान १।२२
ते चतुर्विधा — आगन्तवः शारीरा मानसाः स्वाभाविकाश्चेति।

आगन्तुक रोगोंका हेतु बाह्य उपकरण—शस्त्र आदि है। शारीरिक रोग हीन, मिथ्या और अतिमात्रामें प्रयुक्त अन्न-पानके कारण दूषित (या विषम) हुए वात पित्त कफ रक्त या इनके मिश्रणसे उत्पन्न होते हैं। मानसिक रोग क्रोध शोक, भय हर्ष विषाद ईर्ष्या असूया दैन्य, मात्सर्य काम लोभ आदिसे तथा इच्छा और द्वेषके अनेक भेदोंसे उत्पन्न होते हैं। स्वाभाविक रोग भूख प्यास बुढ़ापा मृत्यु निद्रा आदि हैं। रोगका एक हेतु कर्म भी माना जाता है। कर्मज रोग किसी बाह्य हेतुके बिना भी प्रकट हो जाते हैं। कर्मज रोग हमारे लिए परोक्ष हैं। स्वाभाविक रोग जीवनका सहज क्रम है। आगन्तुक रोगकी जो व्याख्या की जाती है वह आकस्मिक घटना है। शेष रहते हैं—शारीरिक और मानसिक। बाहरसे शरीरमें आकर रोग उत्पन्न करनेवाले अणुओं या कीटाणुओंसे जो रोग उत्पन्न होते हैं वे भी आगन्तुक रोग माने जाने चाहिए।

शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक—इन तीनों प्रकारके रोगोंमें मुख्य रोग मानसिक है। तात्पर्यकी भाषामें कहा जा सकता है कि रोगका मुख्य हेतु आन्तरिक दोष क्रोध आदि हैं।

मनकी स्थिर स्थिति ध्यानावस्थामें बाहरी प्रभाव बहुत कम होता है। रोग प्रतिरोधक शक्ति तीव्र होती है। मन वशवर्ती होता है तो वात पित्त और कफकी अतिरिक्त विषमता नहीं होती। मन पवित्र होता है तो क्रोध आदि जनित रोग उत्पन्न नहीं होते। मनकी अस्थिरता, उच्छृङ्खलता और अपवित्रतामें तीनों प्रकारके रोग होते हैं। इसलिए आरोग्यकी पृष्ठभूमिमें स्वास्थ्य सहज अपेक्षित है। स्वास्थ्य यानी स्वस्थिति आत्मस्थता। अध्यात्मसे आत्माका उदय होता है किन्तु साथ साथ उससे शरीरारोग्य भी होता है।

आराध्यकी सनातनिक भिन्न आराधना आराध्यकी सिद्धिके लिए साधनाका क्षेत्र [illegible] है। यही भारत उपासकी उपलब्धिके लिए उपासनाका है। वस्तुतः इन दोनोंमें आत्मिक भेद नहीं है।

आराधनाका केन्द्र बिन्दु आत्मा है। आत्मा अनन्तकी विविध परिस्थितियोंका वाचक है। अनन्तकी मुख्य परिस्थितियाँ तीन हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जिन देह और आत्माको दो स्वतन्त्र तत्त्व मानकर भिन्न जाना है, वह बहिरात्मा है। जो आत्माको देहसे भिन्न जानता है वह अन्तरात्मा है। जो निष्कलङ्क बन गया है वह परमात्मा है। इस हेय, उपाय और उपेयकी मीमांसा है।

अन्तरात्मा उपाय है। उसके दो कार्य हैं — बहिरात्माका त्याग और परमकी प्राप्ति करना। समाधिशतकमें कहा है —

बहिरन्तः परश्चेति, त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत्॥

आत्माकी त्रिपदीके अनुसार साधनाकालमें जो साधक होते हैं, वे ही सिद्धिकालमें परमात्मा बन जाते हैं।

ज्ञान, दर्शन और आनन्द — ये आत्माके स्वभाव हैं। ज्ञान और दर्शन आत्माका प्रकाश है। इनके द्वारा सब प्रकाशित होते हैं। आनन्द आत्माकी रसवत्ता है। इसके द्वारा वह निरन्तर तन्मय अपने स्वरूपकी रक्षा करता है। आधुनिक विचारकोंका सिद्धान्त है — शरीरकी सारी क्रियाओंका मूल विद्युत्का प्रवाह है। जैन दर्शनका अभिमत है — आत्माकी

सारी विकृतियोंका मूल पुद्‌गल और आत्माका विजातीय तत्त्व है, वह स्पष्ट है।

होम्योपैथीके प्रवर्तक डॉ॰ हैनिमेनका चिकित्सा सूत्र है — 'लाइक क्योरस लाइक' समानसे समानकी चिकित्सा होती है। रोगकी सही चिकित्सा वही है जो उस रोगको उत्पन्न कर सके।

जैन दर्शनका आत्म चिकित्साका सूत्र है — समानसे समानकी उपलब्धि हो सकती है। ज्ञानकी आराधनासे ज्ञानकी, दर्शनकी आराधनासे दर्शनकी और संवरकी आराधनासे संवरकी उपलब्धि होती है। आत्माके स्वभावकी उपासनाके बिना उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती।

आचारांगमें भगवान् महावीरने कहा है स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द — ये विजातीय तत्त्व हैं। इन्हें जो जानता है और इनका परित्याग करता है वही आत्मविद् है।

जैन सूत्र तीन प्रकारकी आराधनाका उपदेश देते हैं — ज्ञानाराधना दर्शनाराधना और चारित्राराधना। व्यवहार ग्रन्थ बतलाते हैं कि व्यवहार दृष्टिसे धर्म आदि तत्त्वोंका श्रद्धान सम्यग् दर्शन, उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान और तपस्याका आचरण सम्यग् चारित्र है।

धर्मादिश्रद्धानं, सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषाम्।

चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहारान्मुक्तिहेतुरयम्॥(तत्त्वानु॰३०)

किन्तु निश्चय दृष्टिसे आत्माका निश्चय ही सम्यग्‌दर्शन, आत्माका बोध ही सम्यग् ज्ञान और आत्मामें स्थिति ही सम्यग् चारित्र है।

दर्शनं निश्चयः पुंसि, बोधस्तद्‌बोध इष्यते।

स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥

भगवान् महावीरने कहा — आत्मीय ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी पाकर आत्मा पाप कर्म (विजातीय तत्त्व) का नाश करता है। इस नाशका अर्थ है — उपास्य और उपासकके व्यवधानकी समाप्ति। उपास्य और उपासक अभिन्न हो जायें यही है उपासनाका बीज।

आत्माकी आराधनाका सूत्र है। जिस पर आत्मा चलता है वह पर है। वह
यह आत्माकी विराधनाका सूत्र है। इसका तात्पर्य है कि आत्माके हित और अहितके बीज स्वयंमें हैं। दूसरे केवल निमित्त हैं। निमित्तका महत्त्व नहीं — ऐसा नहीं है किन्तु उनका उतना महत्त्व नहीं है जितना उपादानोंका है। धार्मिक जीवनमें जो बाह्याचार विकसित हुआ है, असंगति पनपी है वह उपासनाके उपादानको गौण और उसके निमित्तोंको प्रधान समझ लेनेका परिणाम है।



श्रुतकी उपासना

जो एकको जान लेता है, वह सबको जान लेता है और जो सबको जानता है, वही एकको जानता है — यह आगम वाणी है।

वह क्या है, जिसे जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है? आत्माको जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है—यह उपनिषद् वाणी है।

जाननेका अर्थ क्या है? शब्दोंको पढ़ा और उनका अर्थ जान लिया, क्या जानना यही है? यह तो शब्दोंकी पकड़ और वहाँ अर्थकी समझ? अर्थकी वास्तविकता सत्ता है और शब्द हैं उनके संकेत-माध्यम। माध्यमको मूल मानना भूल कैसे नहीं होगी? हम न केवल उपासना करें, उसका अर्थ है उनके माध्यमसे अर्थ तक पहुँच जायें। आत्माका चिन्तन करते रहें, यह कैसा चिन्तन? चिन्तन वह है जिसके द्वारा हम आत्मा तक पहुँच जायें। अर्थ तक पहुँचनेकी प्रक्रिया बहुत पुरानी है। शब्दोंको छोड़ अर्थ तक पहुँचनेका यत्न किया तब उपासनाका जन्म हुआ। जिसकी उपासना की, जिसके पास बैठे उसके पास पहुँच गये। श्रद्धाकी उपासना की तो श्रद्धालु बन गये। ज्ञानकी उपासना की तो ज्ञानी बन गये। चारित्रकी उपासना की तो आचारवान् बन गये। वीतरागकी उपासना की तो वीतराग बन गये। जिसकी उपासना की वही बन गये। आत्माकी उपासना की तो आत्मा बन गये और जड़की उपासना की तो जड़ बन गये। अच्छाईकी उपासना की तो अच्छे बन गये और बुराईकी उपासना की तो बुरे बन गये।

मनकी शक्ति अगाध है। वह जिसके पास बैठता है उसीके पास आत्माका [illegible] जाता है। मनके बैठनेको ही हमारे आचार्योंने योग कहा है। चित्तकी समाधि या चित्तकी एकाग्रता या चित्तकी वृत्तियोंका निरोध जो है, वही योग है और वही है उपासना। शब्दोंमें थोड़ा अन्तर है। एक जुड़नेका अर्थ देता है और दूसरा समीप बैठनेका। मन आत्मासे जुड़ जाये या उसके समीप बैठ जाये—इसमें क्या अन्तर है। कुछ भी नहीं। अन्तर सा इतना ही है कि समीप बैठे बिना कोई जुड़ नहीं सकता। जुड़ता है वह भी समीप रहता ही है।

आत्म चिन्तनका मतलब है कि हम आत्माके बारेमें चिन्तन करते करते आत्मा तक पहुँच जायें। हमारा चिन्तन तबतक चले जबतक हम आत्मा तक न पहुँच जायें। व्यावहारिक पक्ष यह है कि हमारा चिन्तन तबतक चले जबतक हम अपने आपको दुःखी बनानेवाली अपनी ही वृत्तियोंको न पकड़ पायें। सहज ही प्रश्न होगा क्या चिन्तनसे बुराई मिट जायेगी? उत्तर मिला—मिट जायेगी। इन दोनोंके बीचमें जो है वह समझता है। मनुष्य जो बुराई करता है वह मूल बुराई नहीं है। वह बुराईकी अभिव्यक्ति मात्र है। बुराईका मूल है कि मन बुराईके संस्कारके समीप बैठा है। बुराई नहीं रुकती। बुराईका संस्कार रुकता है। बुराई नहीं मिटती बुराईका संस्कार मिटता है। बुराईका संस्कार सूक्ष्म है। सूक्ष्मको मिटानेके लिए सूक्ष्म ही समर्थ हो सकता है। चिन्तन मनकी क्रिया है। वह सूक्ष्म है। इसीलिए बुराईको मिटानेमें जितना उसका महत्त्व है उतना बाहरी कर्मोंका नहीं है। जैन साहित्य कहता है—दो क्षणके ध्यानमें जो शुद्धि होती है वह कई उपवासोंसे नहीं होती। वेदान्तने कर्मकाण्डोंकी उपेक्षा की है और ज्ञानको ही मोक्षका परम साधन माना है। उसका भी एक दृष्टिकोण है। जहाँ मन जाता है वहाँ वाणी जाती है और शरीर भी जाता है। जहाँ मन रुकता है वहाँ वाणी रुकती है। हाथ पैर रुक जाते हैं। मनकी तीव्र अनुभूतिके साथ ही या चिन्तनके

साथ ही हमारे वचन और शरीर चलते हैं। आत्माको जो पाना चाहे वह उसका चिन्तन करे मनकी तीव्रतम अनुभूति उसमें जोड़ दे। जो जिसके पास नहीं जाता वह उसे कैसे पा सकता है?

जो अपनी दुर्बलताओंको मिटाना चाहे वह उनके विच्छेदका चिंतन करे, मनकी तीव्रतम अनुभूति उसमें जोड़ दे। जो जिसके पास नहीं जाता वह उसको विच्छेद कैसे कर सकता है। जो अच्छाइयोंको प्राप्त करना चाहे वह उनके विकासका चिन्तन करे, मनकी तीव्रतम अनुभूति उसमें जोड़ दे। जो जिसके पास नहीं जाता, वह उसका विकास कैसे कर सकता है?

सतत चिन्तनको सम्भवतः बुद्धकी भाषामें स्मृति उपस्थान कहा जा सकता है। जिस कार्यमें लगे उसीमें मन लगा रहे उसकी अनुभूति बनी रहे—यही है स्मृति-उपस्थान। कोई एक काम होता है। पर मनोयोग उसमें नहीं होता उसे भगवान महावीरने द्रव्य क्रिया कहा है। उसमें वास्तविकता तभी आती है जब मन उससे जुड़ जाता है। काम होता रहे और मन दूसरी जगह चक्कर लगाने लगे, वहाँ कर्मकी सामर्थ्य क्षीण हो जाती है।

व्यक्ति धारणाओं से बुराइयाँ त्याग और भलाईको स्वीकार कर किन्तु कायाकल्प सहज ही ऐसा नहीं होता। बुराई चिर-परिचित होती है अच्छाईसे नया परिचय किया जाता है। अणुव्रती व्रतोंको अंगीकार करता है। केवल साधन या स्वीकार करने मात्रसे व्रत सध नहीं जाते। मनकी सतानुभूति सतत उनके साथ जुड़ी रहे तभी वे सधते हैं। इसीलिए व्रतोंके साथ साथ आत्मसाधनाकी विधि स्वीकार की जाती है। साधनाका पहला सूत्र है—प्रतिदिन आत्म चिन्तन करूँगा। व्यक्ति अपने आपको पढ़तम भूल नहीं करता। पर अपने आपको तभी पढ़ सकता है जब आत्म चिन्तनकी प्रवृत्ति हो। व्रतोंको परिपक्व बनानेके लिए यह नितान्त अपेक्षित है। आत्म विस्मृति होनेपर व्रत कैसे टिक सकते हैं?

आत्माकी सतत स्मृतिके लिए श्रुतोपासना आवश्यक है। मामो पामनाके मूलमें स्वाध्यायका कोई मूल्य नहीं है। परन्तु जैसे प्रतिदिन आत्म चिन्तन करता वैसे ही प्रतिदिन श्रुतका अभ्यास करेगा, यह और हो तो आत्म चिन्तनको अवलम्बन मिल जाय। श्रुतकी धाराएँ अनन्त हैं। यही वही प्रयोजनीय है जो आत्म चिन्तनको सहारा दे परिणतिका उन्नयन करे।



अभयका मंत्र

कोई मनुष्य नहीं चाहता — मैं भयभीत बनूं। जो नहीं चाहता मैं भयभीत बनूं वह कैसे चाहेगा — मैं दूसरोंको भयभीत करूं। जो दूसरों को भयभीत करेगा, वह अपने आपमें अभय कैसे होगा? वह दूसरोंको इसलिए डराता है कि स्वयं डर रहा है। जो स्वयं अभय होता है, वह दूसरोंको डरा नहीं पाता। जो दूसरोंको नहीं डराता वही अभय होता है। धर्म शास्त्रके अनुसार अहिंसाका आदि बिन्दु अभय है। मानस शास्त्रके अनुसार मनोविकासका आदि बिन्दु अभय है। भगवान् महावीरके प्रवचन का मूल मन्त्र है — डरो मत! जो डरता है उसीके आस-पास डर अपना डेरा डाले रहता है। जो डरता है वह अपनेको अकेला अनुभव करता है, असहाय मानता है। भूत उसीके पीछे पड़ते हैं जो डरता है। डरा हुआ मनुष्य दूसरोंको भी डरा देता है। डरा हुआ मनुष्य सत्य और संयमको भी तिलांजलि दे देता है। डरा हुआ मनुष्य अपने दायित्वको नहीं निभाता उठाये हुए भारको बीचमें ही डाल देता है। डरा हुआ मनुष्य सत्यका अनुगमन करनेमें सक्षम नहीं होता। इसलिए डरो मत।

न भयानक परिस्थितिसे डरो न भयावने वातावरणसे डरो! न एकान्तसे डरो! किसीसे भी मत डरो! जिसका अन्तःकरण अभयसे भावित होता है वही व्यक्ति शक्तिकी सम्पदाको पा सकता है।

भयसे स्नायु संस्थान शिथिल हो जाता है। डरनेवाला मनुष्य अपनी शक्तिको विकसित नहीं कर सकता। मनुष्य जबतक अर्थ, पदार्थ और भोगके लिए जीता है तबतक वह डरता है। परिवारसे डरता है, राज्य

सत्कार करता है, पाप-पुण्य काम करता है, रोग बुढ़ापे और मौतसे डरता है। भय, प्रमाद और भोगके लिए वह नहीं जीता, किन्तु अपने लक्ष्यकी पूर्तिके लिए जीता है, विकासके लिए जाता है, वह भोग और ना क्या भोगने भी न करता। उसके लिए आत्मा ही मुख्य होता है, अन्य गौण। बुद्धिमान मनुष्य वह है जो अपने लिए बहुतको न खाये।

आर्यो! आओ! भगवान्‌ने गौतम आदि श्रमणोंको आमन्त्रित किया। भगवान्‌ने पूछा — आयुष्मान् श्रमणो! जीव किससे डरते हैं?

गौतम आदि श्रमण निकट आये, वन्दना की, नमस्कार किया, विनम्र भावसे बोले — भगवन्! हम नहीं जानते, इस प्रश्नका क्या तात्पर्य है? देवानुप्रियको कष्ट न हो तो भगवन् कहें। हम भगवान्‌के पाससे यह जानने को उत्सुक हैं।

भगवान् — आर्यो! जीव दुःखसे डरते हैं।

गौतम — भगवन्! दुःखका कर्ता कौन है और उसका कारण क्या है?

भगवान् — गौतम! दुःखका कर्ता जीव और उसका कारण प्रमाद है।

गौतम — भगवन्! दुःखका अन्तकर्ता कौन है और उसका कारण क्या है?

भगवान् — गौतम! दुःखका अन्तकर्ता जीव और उसका कारण अप्रमाद है।

तुम अपने भाग्यके विधाता हो। सागरकी बूँद और सागर स्वयं तुम हो। तुम जो होना चाहते हो उसका निर्णय तुम्हींको करना है। तुम इन पंक्तियोंको गुनगुनाते रहो—

मैंने सुना है, अनुभव किया है —
स्वतन्त्रताकी पूँजी स्वयं मैं हूँ।
मैंने सुना है, अनुभव किया है —

फूलोंकी सुगन्ध और काँटोंकी चुभन स्वयं में हूँ।
मैंने सुना है अनुभव किया है —
प्रश्न और सृजन स्वयं में हूँ।
मैंने सुना है अनुभव किया है —
सागरकी बूँद और सागर स्वयं में हूँ।



प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है—आकर्षणकी और विकर्षणकी। आकर्षणका विकर्षण होनेसे आन्तरिक आकर्षण समाप्त हो जाता है। कभी-कभी साधना-क्रमके अभावमें भी मनुष्य अपनी प्रबल विरक्त शक्तिके द्वारा आकर्षणपर नियन्त्रण कर लेता है पर उसका विकर्षण नहीं कर पाता। बाह्यके प्रति आकर्षणका विकर्षण करनेके लिए ध्यानके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। ध्यानसे मन केन्द्रित होता है और उससे स्वयं विषयोंके प्रति अरुचि हो जाती है। ऋषिभाषितमें कहा है—ध्यानके बिना धर्म सिर रहित शरीरके समान है। चित्तमें सहज वैराग्य हो जाय यह बहुत कठिन है। दीर्घकालीन अभ्यासके बिना सामान्य व्यक्ति वैराग्यको प्राप्त नहीं कर पाता।

ध्यानके विषयमें जैन सूत्रोंमें अनेक स्थलोंपर बिखरे तत्त्व मिलते हैं। विसुद्धिमग्ग और पातञ्जलयोगसूत्रकी तरह कोई एक आगमकालीन ग्रन्थ इस समय प्राप्त नहीं है फिर भी कई सूत्रोंमें तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थोंमें ध्यानकी पद्धति मिलती है।

ध्यानकी साधना-पद्धति यह है—आहारका विवेक, आसनकी साधना, प्रतिसंलीनता या प्रत्याहार, धारणा और फिर ध्यान। आचार्य कुन्दकुन्दने लिखा है—जो व्यक्ति आहार, आसन और निद्रा विजयको नहीं जानता वह जैन-शासनको नहीं जानता। साधनाका प्रारम्भ करनेवाला पहले दिन ही दृढ़ संयमी हो जाय यह कैसे सम्भव है? संयमकी दृढ़ता अभ्यास करते करते प्राप्त होती है। अभ्यासके लिए अनुभवी गुरुका

मार्ग दर्शन आवश्यक है। जो मार्ग ही न जाने वह आगे कैसे बढ़ सकता है? मार्ग पूछनेमें क्या कोई संकोच होता है? नहीं होता। तो फिर साधकको मार्ग दर्शन लेनेमें क्या संकोच होना चाहिए? उसे यह मानकर कभी नहीं चलना चाहिए कि दूसरोंको मेरी दुर्बलताका पता न चले। इस मान्यतामें आदमी अपनी दुर्बलताको छिपानेका प्रयत्न करता है और जहाँ छिपानेका प्रयत्न होता है वहाँ साधना वंचनामें बदल जाता है।

साधकको इस मान्यताके आधारपर चलना चाहिए कि विषयोंके प्रति लगाव किसमें नहीं है? सबमें है। दुर्बलता किसमें नहीं है? सबमें है। जो व्यक्ति साधनाके आरम्भमें ही अपनेको बहुत प्रबल दिखानेका यत्न करता है वह बहुत दुर्बल है। उसकी दृष्टि साधनाके प्रति स्पष्ट नहीं है।

साधकके सामने शारीरिक या मानसिक जो भी अवरोध आये उसे वह अपने पथ-दर्शकके सामने रख दे। वे अवरोधको दूर करनेका जो मार्ग बतायें उसपर चले। साधनाके क्षेत्रमें ज्ञान कम बहुत बड़ी बात नहीं है बहुत बड़ी बात है करना।

जो व्यक्ति भोजनके प्रति बहुत जागरूक नहीं है आसनके अभ्यासमें दृढ़निष्ठ नहीं है प्रत्याहार धारणा और ध्यानका अभ्यासी नहीं है उसके लिए ब्रह्मचर्यकी साधना कल्पनालोककी बात है।

• •

विहार चर्या

स्वास्थ्यका सम्बन्ध [illegible] [illegible] [illegible] भी है। उसमें एक विहार चर्या है। विहार चर्या अर्थ तु [illegible] चर्या। [illegible] अर्थ है। किन्तु आज मैं उसके दो अंगों — बैठने और [illegible] [illegible] बातें बताऊँगा।

बैठो तो विधिवत् बैठो। न सुस्त बैठो और न अकड़कर बैठो। रीढ़को सीधा रखो पर तनाव मत लाओ। लम्बे समय तक एक आसनसे [illegible]। उसमें [illegible] [illegible] होते हैं। न [illegible] विशेष साधनाके [illegible] तीन घण्टे तक एक आसनसे बैठा जा सकता है। [illegible] एक या मिनिट, [illegible] पाँच मिनिट और [illegible] तीन मिनिट तक किया जा सकता है। शरीरासनके लिए अलग अलग विधान है। [illegible] [illegible] तीन घण्टे तक [illegible] जा सकते हैं। आसन जब सिद्ध हो जाते हैं तब द्वन्द्वोंसे कोई कष्ट नहीं सताते। महर्षि पतंजलिने लिखा है—

ततो द्वन्द्वानभिघातः (पातंजल योग दर्शन २।४८)

शरीरमें दो प्रकारकी चर्या होती है—अन्तर्यात्रा और बहिर्यात्रा। अन्तर्यात्रा [illegible] [illegible] होती है। वह बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। आसन और व्यायाम उसकी शक्ति बढ़ाते हैं। [illegible] [illegible] [illegible] कष्ट सहे और कष्ट सहनेकी [illegible] न [illegible] हो रहे विशेष साधनाके बिना यह कैसे हो सकता है? [illegible] करनेवाला सहिष्णु होता है। आसनोंसे न शारीरिक किन्तु मानसिक विकास भी होता है। आसनोंका स्वास्थ्यके साथ गहरा सम्बन्ध है।

रक्तके संचालनमें श्वासका बड़ा हाथ है, इसलिए इस बातपर ध्यान देते रहो कि श्वास कम लिया जाय? श्वास लेनेका मुख्य अंग नाक है। वह उसास लो, मुंहसे मत लो। मुंहसे श्वास लेनेपर फेफड़े कमजोर बनते हैं, क्योंकि भीतर जानेवाली ठण्डी हवा सीधी फेफड़ोंपर असर करती है। नाकसे जानेवाली हवा गरम होती है। उसमें जो कचरा होता है उसे नाकके बाल रोक लेते हैं। केवल शुद्ध हवा प्रवेश करती है। किसी विशेष परिस्थितिमें श्वास मुंहसे भी लिया जा सकता है। मानो गरमी बढ़ गया है। उसे शान्त करना है। उसका उपाय है शीतली मुद्रा। शीतली मुद्रा करते समय श्वास मुंहसे लिया जा सकता है।

हर समय श्वास लम्बी लेनेका अभ्यास करो। एकाग्रतासे जापमें श्वास धीरे-धीरे लम्बा होता जाता है। काम करते समय भी दीर्घ श्वास लिया जा सकता है। दीर्घ श्वाससे स्वास्थ्यमें प्रत्यक्ष लाभ होता है।

स्वस्थ कौन? मैं स्वस्थ हूँ या नहीं, इसका निर्णय करना बहुत सरल नहीं है। कुछ लोग दुबलेको अस्वस्थ और मोटेको स्वस्थ मान बैठते हैं। डॉ० ट्रम्बूनन कहा है—स्वस्थ वह है जिसका चित्त प्रसन्न और शान्त व प्रवृत्तियाँ उत्तेजनारहित हों।

स्वस्थ रहनेमें मानसिक प्रसन्नताका बहुत बड़ा हाथ है। हीन भावना और अहं भावना मनके सन्तुलनको बिगाड़ देती है। किसीके कुछ कहनेपर, उपालम्भ देनेपर, मनके प्रतिकूल स्थिति होनेपर, मन विकल्पोंसे भर जाता है। उसने मुझे क्या कहा? इसके पीछे क्या भावना है?—आदि आदि प्रश्नोंमें मन उलझ जाता है। ये अधिक विकल्प उसीके मानसमें उठते हैं जिसका मन कमजोर होता है। जिसका मन शक्तिशाली होता है, वह सब कुछ समझता हुआ भी बाह्य स्थितिसे अधिक प्रभावित नहीं होता। मानसिक संवेदनाओंका स्वास्थ्यपर बहुत असर पड़ता है। शरीरमें भयंकर रोगके कीटाणु होते हैं पर जीवनी शक्ति प्रबल होनेसे उनका

द्वार नहीं मिलता। मन कमजोर हो तो अन्य तत्त्व व कीटाणु भी आक्रमण कर देते हैं।

डॉ० एनिमसन कहते—रोगका मूल आमाशय है। इसमें सुधार आवश्यक है। कुछ आन्तुक रोगोंकी खोज करनेसे यह निष्कर्ष प्राप्त होता कि मनुष्यके शरीरमें दस प्रतिशत रोग शारीरिक होते हैं और नब्बे प्रतिशत मानसिक। मानसिक आवेगोंसे अनेक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। घृणासे मन विषाक्त बन जाता है। एक व्यक्तिका सामान्य स्थितिमें फोटो लिया गया उस समय वह स्वस्थ था, रक्त आदि में कोई दोष नहीं मिला। उसी व्यक्तिके घृणाके समय फोटो लिये गये तो रक्तमें दूषितता मिली। आशा से मन विकसित होता है और मैत्री आदि भावनाओंसे वह प्रसन्न होता है। प्रसन्नताका स्थान हृदयमें बहुत ऊँचा है। यह निर्विकल्पिक मानसिक अवस्था है। यह अनुकूल संयोगोंमें उत्पन्न होती है और प्रतिकूल संयोगोंमें विलय हो जाती है। प्रसन्नता अन्तःकरणकी सहज स्वच्छता है। वह बाहरी संयोग वियोगसे अप्रभावित मनकी स्थिति है। ध्यान कायोत्सर्ग अनित्य आदि भावनाओंके द्वारा चित्तमें प्रसन्नता बढ़ती है। जिसका चित्त जितना प्रसन्न होता है वह उतना ही स्वस्थ होता है। जितना विषण्ण होता है उतना ही अस्वस्थ। प्रसन्नताके लिए ध्यान और कायोत्सर्ग अमोघ साधन हैं।

मानसिक प्रफुल्लतासे शरीरका संरक्षण होता है। आजकल डॉक्टर लोग स्वतः सूचनाका अधिक उपयोग करते हैं। मनमें संकल्प करें कि मैं स्वस्थ हूँ। मेरी बीमारी मिट गया है। विश्वासके साथ संकल्प करनेसे निश्चित सफलता मिलती है। धारणा, स्वतः सूचना और आसनोंका प्रयोग करके देखा जाये फिर यह प्रश्न नहीं होगा कि इनका स्वास्थ्यसे क्या और कितना सम्बन्ध है?



स्वास्थ्य और आहार विवेक

स्वास्थ्यके अनेक साधन हैं उनमें भोजन भी एक है। भोजन-सम्बन्धी जानकारी आवश्यक होती है। भोजन कब करना चाहिए? — इसका सीधा-सा उत्तर यही है, जब भूख लग जाये? कितना और क्या खाना चाहिए यह भी जानना आवश्यक है।

आगममें एक शब्द आता है मियासण — मिताहार। साधुको मित आहार करना चाहिए। आयुर्वेदमें भी आहारके तीन प्रकार बताये गये हैं। हीनाहार मिताहार और अतिआहार। मिताहार स्वास्थ्यके अनुकूल होता है। हीनाहार और अतिआहार स्वास्थ्यके प्रतिकूल होते हैं। यद्यपि कइयों का विश्वास है कि हीनाहारसे पाचन क्रिया ठीक होती है पर आयुर्वेदकी दृष्टिमें वह सही नहीं है। जैसा कि कहा गया है—

> तत्र हीनमात्रमाहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमुदावर्तकर मनायुष्यवृष्यमनौजस्यं शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं सारविधमनमल क्ष्म्यावहमशीतेश्च वातविकाराणामायतनमाचक्षते।

हीन आहारसे बल, सौन्दर्य और पुष्टता नष्ट होती है। आयुष्य और ओजकी हानि होती है। शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियका विनाश होता है तथा अस्सी प्रकारके वायुके रोग उठ खड़े होते हैं।

> आहारमग्निः पचति, दोषानाहारवर्जितः।
> धातून् क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसंक्षये ॥१॥

अग्नि आहारको पचाती है। आहारके अभावमें वह दोषोंको पचाती है। दोष क्षीण होनेपर वह धातुको और धातुओंके क्षीण होनेपर वह जीवन

को झेल आती है। इसलिए आयुर्वेदका मत है कि अग्निको उचित मात्रामें आहार मिलना चाहिए। अतिमात्राहार सब दोषोंको कुपित कर देता है—अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपणम्।

प्रश्न उठता है, परिमित आहार किसे माना जाय? सबकी भूख समान नहीं होती इसलिए सबके लिए एक ही सीमा नहीं हो सकता। इसका संक्षिप्त उत्तर यही होगा कि जिसको जितनी भूख लगे उससे एक ग्रास कम खाना ही परिमित आहार है। भारतीय स्वास्थ्य विभागने सामान्य भोजनकी तालिका इस प्रकार प्रस्तुत की है—धान्य १४ औंस, दाल ३ औंस, साग-तरकारी ६ औंस, दूध १० औंस चीनी या गुड़ १ औंस, तेल घी आदि २ औंस।

शारीरिक श्रम करनेवाले इस अनुपातसे अधिक भी ले सकते हैं। क्योंकि, स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भोजन करनेके दो कारण हैं—शक्तिकी पूर्ति और वृद्धिकी प्राप्ति। ज्यादा खानेसे ज्यादा ताकत आती है यह विश्वास मिथ्या है। होता यह है कि अधिक खानेको पचानेके लिए उल्टा ताकत कहीं अधिक खर्च होती है। हिताहारसे स्वास्थ्य बनता है और अहिताहारसे वह बिगड़ता है।

> हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति।
> अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति ॥१॥

जो आहार सम शरीर धातुओंको प्रकृतिमें स्थापित करता है और विषम शरीर धातुओंको सम करता है वह हित आहार होता है जो इससे विपरीत होता है वह अहित।

यन्त्वाहारजातं समांश्चैव शरीरधातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोतीत्येतद्धितं विद्धि विपरीतं त्वहितमिति।

भोजन कैसा? आयुर्वेदमें इसका उत्तर यह है कि मनुष्यका भोजन स्निग्ध, उष्ण और रसपरिपूर्ण हो। कोरे रूखे आहारसे वृत्तियोंमें भी स्थापन आ जाता है और साथमें चिकनाई—स्निग्धतासे अनुदीर्ण अग्नि

प्रदीप्त होता है, खाया हुआ भोजन शीघ्र पचता है, वायुका अनुलोमन होता है, इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं, बल बढ़ता है, वर्ण और प्रसन्नताकी अभिवृद्धि होती है। इसलिए भोजन स्निग्ध होना चाहिए।

स्निग्धमश्नीयात् स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चानुदीर्णमग्निमुदीरयति क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, दृढीकरोति इन्द्रियाणि बलाभिवृद्धिमुपजनयति वर्णप्रसादं चाभिनिर्वर्तयति। तस्मात् स्निग्धमश्नीयात्।

उष्णमश्नीयात् उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते भुक्तं चाग्निमौष्ण्यमुदीरयति क्षिप्रं जरां गच्छति वातमनुलोमयति। श्लेष्माणं च परिह्रासयति। तस्मादुष्णमश्नीयात्।

आहार कैसे करें? स्वास्थ्यविज्ञानने भोजन करनेकी कुछ विधियाँ निश्चित की हैं। ये बहुत उपयोगी हैं। उनमें पहली विधि यह है—
१ तन्मना भुञ्जीत — आहार करते समय मन आहारमें ही रहना चाहिए।
२ नातिद्रुतमश्नीयात् — बहुत जल्दी जल्दी नहीं खाना चाहिए। ३ नातिविलम्बितमश्नीयात—अत्यन्त धीरे धीरे भी नहीं खाना चाहिए। ४ अजल्पन् अहसन् तन्मना भुञ्जीत—भोजन करते समय न बातचीत करनी चाहिए और न हँसना चाहिए। मन केवल भोजनमें रहना चाहिए।
५ ईर्ष्याभयक्रोधपरिक्षितेन, लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥१॥
मात्रयाप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।
चिन्ताशोकभयक्रोध दुःखशय्याप्रजागरैः ॥२॥ भोजन करते समय मन शान्त रहना चाहिए। क्योंकि ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ, रोग, दीनता, प्रद्वेष, चिन्ता, शोक, दुःखशय्या और रात्रि जागरण—इन सब स्थितियोंसे प्रभावित व्यक्ति जो खाता है उसका ठीक-ठीक परिपाक नहीं होता। वह यदि पथ्य आहार करता है और युक्त मात्रामें करता है फिर भी उसका खाया हुआ ठीक ढंगसे नहीं पचता।

पानी : भोजनके साथ पानीका भी सम्बन्ध है। उससे भोजन पचता है और शरीरके दूषित तत्त्व बाहर निकलते हैं किन्तु उसका उपयोग भी विवेकपूर्ण हो। एक साथ बहुत पानी पीनेसे भोजनका परिपाक नहीं होता और पानी बिलकुल न पीनेसे भी उसका परिपाक नहीं होता। इसलिए थोड़ा-थोड़ा करके भोजनके बाद पानी पीना चाहिए।

अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं निरम्बुपानाच्च स पाकमेति।
तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि॥

पानी न अधिक गरम और न अधिक ठण्डा बल्कि साधारण तापमानके समान पीना चाहिए।

उपवास विवेक : स्वास्थ्यकी सुरक्षाके लिए जितना महत्त्व भोजनका है उससे कम उपवासका नहीं है। शरीरमें जितने रोग उत्पन्न होते हैं उनका प्रधान कारण समयपर ठीक पाचन न होना ही है।

पाचन यदि ठीक समयपर हो तो शरीर अस्वस्थ बहुत कम रहता है। शास्त्रोंमें उपवासका महत्त्व इसीलिए है कि यह आँतोंको आराम देता है। जिससे वे समयपर अपना कार्य करती रहें। आँतें यदि लगातार और निरन्तर ही उचित काम करती रहें तो अस्वास्थ्यकी सम्भावना बहुत दूर हो जाती है। जिसके आँतोंको विश्राम नहीं मिलता है जो उचित मात्रासे अधिक भोजन करता है और जो अपरिमित भोजन करता है उसके स्वास्थ्यकी सुरक्षा उसकी इन प्रवृत्तियोंसे ही निहित है।



चित्तस्य शुद्धये कर्म, न तु वस्तूपलब्धये—॥ (विवेक चूडामणि)

कर्म चित्तकी शुद्धिके लिए करना चाहिए, वस्तुकी उपलब्धिके लिए नहीं – यह शंकराचार्यका अभिमत है। उन्होंने चित्त-शुद्धिके परम्परागत चार साधन माने हैं—

साधनान्यत्र चत्वारि, कथितानि मनीषिभिः।
येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा, यदभावे न सिध्यति ॥१८॥
आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते।
इहामुत्र फलभोगविरागस्तदनन्तरम् ॥१९॥
शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् ॥२०॥

१ विवेक २ भोग विराग ३ शमादि षट्क सम्पत्ति ४ मुमुक्षुत्व।

जैन साधनामें इनके नाम भिन्न हैं पर आशय दृष्टिसे दोनोंमें समानता है—

१ विवेक = सम्यक्त्व

२ भोग विराग = निर्वेद

३ शमादि षट्क सम्पत्ति—

(१) शम (२) दम (३) उपरति (४) तितिक्षा (५) श्रद्धा, (६) समाधान = (१) शम (२) दम (३) उपरति (४) तितिक्षा, (५) श्रद्धा (६) समाधि।

४ मुमुक्षुत्व = संवेग

आचार्य शंकरने विवेककी परिभाषा इस भाषाम की है—ब्रह्म सत्य है जगत मिथ्या है। इस प्रकार जो विनिश्चय है उसे नित्यानित्य वस्तुका विवेक कहा जाता है—

ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्येत्येवरूपो विनिश्चय ।२०।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेक समुदाहृत ।२१।

जैन दर्शनके अनुसार जिनका अस्तित्व है वे सब सत्य हैं। चेतन भी सत्य है और अचेतन भी सत्य है। अस्तित्वकी दृष्टिसे दोनों सत्य हैं। चेतन और अचेतनमें एकताकी बुद्धि होती है वह असत्य है। चेतनको अचेतनसे भिन्न मानना सम्यक्त्व है। भोग्य वस्तुके प्रति जो घृणा होती है, उसे वैराग्य कहा जाता है—

तद् वैराग्य जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभि —।२२।
देहादिब्रह्मपर्यन्त ह्यनित्य भोग्यवस्तुनि—।२३।

वस्तुके प्रति हमारी दोषदृष्टि स्थिर हो तो मनमें घृणा होती है अन्यथा नहीं।

कोई चीज सामने आती है। वह रंग रूपमें अच्छी है। शरीरके लिए वह हितकर नहीं है फिर भी उसे देख व्यक्तिका मन ललचा जाता है। क्योंकि आंखोंके सामने उसका रंग रूप आता है, पर परिणाम नहीं आता। इन्द्रियोंके संस्कार चलनेवाला परिणामको नहीं जानता वस्तुके स्पर्श जानता है। जो व्यक्ति यह जान ले इसका परिणाम अच्छा नहीं है वही उसके उपभोगसे बच सकता है। भगवान् महावीरने कहा है—आयंकदंसी न करेइ पावं—जो आतंकदर्शी होता है वह पाप नहीं करता। पाप वही करता है जिसे पाप करनेमें आतंकदर्शन नहीं होता—अपना अनिष्ट नहीं दीखता। जो व्यक्ति यह जानता है कि मनमें एक बार बुरी भावना आनेका अर्थ है दिमागमें ब्रण होना। यह बुरी

भावनाको दिमागमें घुसनेसे रोकेगा। किन्तु जो ऐसा नहीं जानता वह दूसरोंको बुरा करनेमें बहुत रस लेता है। एक बार भी दिमागमें बुरी भावना आती है, वह अपना संस्कार छोड़ जाती है और वह संस्कार न जाने कब उद्बुद्ध होकर व्यक्तिको भटका देता है। बहुत बार हम कल्पना करते हैं कि अमुक व्यक्ति इतना अच्छा है, उसने यह अनुचित काम क्यों किया? पर हम इस सत्यको भुला देते हैं कि व्यक्ति वर्तमानसे ही प्रेरित नहीं होता, अतीतके संस्कारोंसे भी प्रेरित होता है। इसी सत्यको स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीरने कहा था—हिंसा इसलिए त्याज्य है कि उससे अपना पतन होता है।

भयाली अट्टणिने अपना अनुभूतिको स्वरमें लिखा है—मैं किसीका तिरस्कार नहीं करूंगा, क्योंकि वह मुझसे तिरस्कृत होकर मेरे अहितके लिए सदा जागरूक बन जायगा—

णो हं परं तु भा अवरणो विसोयणइआए परं अभिमविस्सामि।
मा ण भा ण मे परं अभिभूयमाणे ममं चेव अहिताए भविस्सति ॥१॥

जैसा एकांगिक बोल्टन कहा—किया हुआ कर्म अवश्य भोगना पड़ता है। यह सिद्धान्त नैतिकताका आधार प्रस्तुत करता है। भारतके अनेक दार्शनिक इस तथ्यको हजारों वर्षोंसे दोहराते आये हैं। हम बहुत लम्बे भविष्यमें न भी जायें। इसकी सचाई उससे पूर्व भी हमारे सामने आ जाती है। क्या झूठ बोलनेवाला उसके परिणामसे बच सकता है? कभी नहीं। झूठ बोलनेमें पहले मनमें चिंता होती है। बोलते समय मनमें भय होता है, हृदयमें धड़कन बढ़ जाती है और अन्तमें पश्चात्तापसे मन भर जाता है। इस प्रकार साथ ही कालमें सूक्ष्म मानसिक ग्रंथियोंमें शिथिलता आती है।

अध्यात्मके प्रति जो उपेक्षा होती है, वह अपने हितके लिए होता है। दूसरेको हीन माननेसे वह हीन नहीं होता किन्तु हीन माननेवालेमें हीनता उत्पन्न हो जाती है। दूसरेके प्रति असद्‌ व्यवहार करनेवालेके उसके प्रति

हानि पहुँचा सके या नहीं यह निश्चित नहीं है। किन्तु असत् व्यवहार करनेवाला अपने लिए गड्ढा खोद लेता है यह सुनिश्चित है। इस प्रकार बुरी प्रवृत्तियोंमें जो अपना घातक देखता है वही उनके प्रति विरक्त हो सकता है। विषयोंमें दोषदर्शनका अभ्यास आध्यात्मिकताका गहरा आधार और वैराग्यकी महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि है। चित्तशुद्धिके चार कारणोंमें विवेक और मुमुक्षुत्व मूलभूत कारण हैं। इनके होनेपर समाधिषट्क सम्पत्ति और भोग विराग सहज ही निष्पन्न हो जाते हैं। जैन परिभाषामें कहें तो, सम्यक्त्व और संवेग मूलभूत कारण हैं। शम आदि तथा निर्वेद उनके फलित हैं।



संवेग

वेग शब्द 'विज्' धातुसे बना है। विज्का अर्थ है दौड़ना, कम्पन करना। वेग दो प्रकारका होता है—शारीरिक और मानसिक। भूख, प्यास, रोना, हँसना, मल-मूत्र, वीर्य आदि शारीरिक वेग हैं। क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, कामवासना आदि मानसिक वेग हैं। शारीरिक वेगको रोकनेमें हानि होती है और मानसिक वेगको न रोकनेमें हानि होती है। आयुर्वेदकी दृष्टिसे भी शारीरिक वेग रोकना लाभप्रद नहीं है। दशवैकालिक सूत्रमें कहा है—वच्चमुत्तं न धारए ?

मल-मूत्रके वेगको मत रोको। उसे रोकनेसे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

> मुत्तनिरोहे चक्खु, वच्चनिरोहे य जीवियं चयति।
> उड्ढनिरोहे कोढं, सुक्कनिरोहे भवइ अपुमं॥

मूत्रका वेग रोकनेसे चक्षुकी ज्योति नष्ट होती है। मलका वेग रोकनेसे जीवनी शक्तिका नाश होता है। ऊर्ध्ववायु रोकनेसे कुष्ट रोग उत्पन्न होता है और वीर्यका वेग रोकनेसे पुंस्त्वकी हानि होती है।

वेगका अर्थ है—स्फूर्ति या तीव्र गति। 'सं' उपसर्ग लगनेसे उसका अर्थ होता है—मोक्षके प्रति तीव्र अभिलाषा। मुमुक्षु साधु ही नहीं, गृहस्थ भी हो सकते हैं, यदि मुमुक्षाके भाव प्रबल हों। गांधीजी एक दिन राजेन्द्र बाबूके घरपर गये। द्वारपालने उनकी वेशभूषा देखकर जाने न दिया। दुत्कार कर वापस कर दिया। राजेन्द्र बाबूने इस अपमानकी स्थितिको देख लिया। वे दौड़कर नीचे आये, गांधीजीसे माफी माँगने लगे। उत्तरमें गांधीजीने कहा—मान-अपमान आत्माका बन्धन है, मैं

सो इससे मुक्त होना चाहता हूँ।

ये विचार वहीं उठते हैं जहाँ समताका भाव आता है। मनके अनुकूल कार्यमें सबको अनुभूति होती है और प्रतिकूल स्थितिमें हीन भावना सताती है। यह वृत्ति मनुष्यको बार बार दुःखी बनाती है। निन्दा और प्रशंसामें सम रहना अति कठिन है। किन्तु साधकको उनमें सम रहना चाहिए।

लाभालाभ, सुह दुक्ख, जीविय मरण तहा।
समो निंदापसंसासु तहा माणावमाणओ॥

लाभ और अलाभ, सुख और दुःख, जीवन और मरण, प्रशंसा और निन्दा, मान तथा अपमान—ये पाँच युगल हैं। हर व्यक्तिमें मानवीय दुर्बलता होती है। इसीलिए वह पाँच युगलोंमेंसे लाभ, सुख, जीवन, प्रशंसा और मानको चाहता है। अलाभ, दुःख, मरण, निन्दा और अपमानको नहीं चाहता। वास्तवमें जिन पाँचोंको व्यक्ति चाहता है वे भी बन्धन हैं और उनसे अधिक गहरे हैं जिनको वह नहीं चाहता। क्योंकि दुःख और निन्दाकी बात समझमें आ जाती है पर लाभ और प्रशंसाकी बात समझमें नहीं आती। जब यह समझमें आ जायगा कि ये भी बन्धन हैं तभी साधना सफल होगी। साधु बनने-मात्रसे जीवन ऊपर उठ जायगा यह मानना भूल है। जीवन उन्नत तभी होगा जब इनकी साधना परिपक्व होगी। गृहस्थ की सामायिक मुहूर्त भर तक होती है साधु उसे जीवन भरके लिए स्वीकार करता है।

सामायिकका अर्थ है—विषमताका सर्वथा परिहार। लाभ और अलाभ दोनों जीवनकी विषमताएँ हैं। लाभ पर्वत है तो अलाभ गड्ढा। दोनोंका समतल है सामायिक या समता। पाँचों युगल जीवनकी विषमताएँ हैं। उनका त्याग ही सामायिक है। साधकमें सबसे पहले मुमुक्षा वृत्ति होनी चाहिए। उसके सुप्त होनेपर सब सुप्त हो जाते हैं। मुमुक्षा वृत्तिका परिणाम है—धर्मके प्रति श्रद्धा या इच्छा उत्पन्न होना। बिना

प्रयोजन इच्छा जागृति नहीं होती। बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छाके लिए पहला साधन धर्म है। इसलिए धर्मके प्रति श्रद्धा होती है। फिर उसका आचरण। एक व्यक्ति क्रोधमें जल उठता है, दूसरा क्षमा करता है। क्षमा करनेवाला आनन्दकी अनुभूति करता है। तब वह निश्चय करता है कि क्षमाका मार्ग सुखद है।

प्रयोगके अनुसार धर्मके प्रति श्रद्धा होती है और उसमें अधिक सघन बनती है। धर्मके प्रति श्रद्धा है या नहीं इसका सही उत्तर आत्म-निरीक्षणसे मिलता है। जिसके मनमें श्रद्धा होती है वह क्षुद्र व्यवहार नहीं करता। जहाँ उसके प्रति श्रद्धाका अभाव होता है वहाँ सब कुछ होता है जो नहीं होना चाहिए।

धर्मकी वैज्ञानिकता

धर्म वैज्ञानिक तत्त्व है। वैज्ञानिक तत्त्व वह होता है जो देश-कालसे अबाधित हो, जिसका निष्कर्ष सब देश-कालमें समान हो। अमेरिकामें प्रयोग करनेसे सफलता मिलती है तो भारतमें भी उसका प्रयोग सफल होगा। एक वर्ष पहले प्रयोगमें सफलता मिली तो आज भी उसमें सफलता मिलेगी। सर्वत्र और सर्वदा जो प्रयोगमें एकरूपमें रहता है वह वैज्ञानिक तत्त्व होता है। धर्म इसकी कसौटीमें परम वैज्ञानिक तत्त्व है। धर्मकी आराधना लन्दनमें, भारतमें या अमेरिकामें कहींपर भी करो, सबको आनन्द मिलेगा। आज, कल और परसों कभी उसकी आराधना करो उसके परिणाममें कोई अन्तर नहीं आयेगा। धर्मकी आराधना करनेवाले सब मुक्त हो गये, वर्तमानमें हो रहे हैं और भविष्यमें होंगे। इसलिए धर्म प्रायोगिक है, त्रैकालिक है और देश-कालसे अबाधित है। इसीलिए वह परम वैज्ञानिक तत्त्व है।

पाश्चात्य देशोंमें नये दार्शनिक यह मानने लगे हैं कि अध्यात्मके बिना शान्ति नहीं मिलती। जैन आगमोंमें यह उल्लेख है कि अन्य साधु, साधुत्व

संगम करता हुआ क्रमशः सुखमें आगे बढ़ता है। एक वर्षकी साधनामें वह भौतिक जगतके उत्कृष्ट पौद्गलिक (सर्वार्थसिद्ध) सुखोंको लांघ जाता है। पांच दस और पन्द्रह वर्षों तक साधना करनेपर भी यदि आनन्द नहीं आता तब प्रश्न उठता है कि यह सिद्धांत सच्चा नहीं है या वह हमारी पकड़में नहीं आया। पहली बात पकड़की है। वह सही है या नहीं? इसका निर्णय पकड़नेवाला ही हो सकता है। उस पकड़नेमें ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है। इच्छाओंका स्तर जैसे जैसे ऊपर उठता है वैसे-वैसे उनका परिग्रह, ममत्व और शरीरकी अवगाहना कम होती जाती है, शान्ति बढ़ती जाती है। निर्वासनाके साथ सुख भी बढ़ता जाता है। हमें यथार्थ दृष्टिसे देखना चाहिए। उसके बिना हम सत्य तक नहीं पहुंच सकते। यथार्थ-दृष्टिसे देखनेपर यह स्पष्ट होता है कि भौतिक सुख भी क्षणिक सुख है पर उसे दुःख इसलिए माना कि उसका परिणाम सुखद नहीं है। एक सुख ऐसा भी है जिसका परिणाम सुखद है। उसकी प्राप्तिके लिए ही क्षणिक सुखका त्याग किया जाता है। सुख केवल शारीरिक ही नहीं मानसिक भी होता है। सबसे बड़ा सुख मनकी शान्ति है। मनुष्य बाह्य विलासोंसे थकनेपर शान्तिकी शरणमें आता है। सबसे बड़ा दुःख अशान्ति है। उसका मूल आवेग है। उसपर विजय पाना ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।



मुमुक्षाकी वृत्ति जगनेके बाद निर्वेद होता है। निर्वेदका अर्थ है—वैराग्य। वह तीन प्रकारका है—संसार वैराग्य, शरीर वैराग्य और भोग वैराग्य। पतंजलिने वैराग्यकी परिभाषा की है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्॥ पातंजल योग दर्शन ॥१।१५,१६

गुण (विषय) दो प्रकारके हैं—दृष्ट और आनुश्रविक। भोजन, वस्त्र, मकान आदि जो प्रत्यक्ष हैं वे सब दृष्ट हैं। जो इन्द्रिय विषय पढ़कर या सुनकर जाने जाते हैं वे आनुश्रविक हैं जैसे स्वर्ग-सुख आदि। दोनों ही प्रकारके विषयोंके प्रति तृष्णाके भाव समाप्त होनेपर वैराग्य होता है। वह धार्मिकके लिए ही नहीं, सबके लिए आवश्यक है। सत्य जिज्ञासु व मुमुक्षुके लिए वह अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा आत्मदर्शन नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्दने कहा—

ताम ण णज्जइ अप्पा, विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो, जोइ जाणेइ अप्पाणं॥

मनुष्य जबतक विषयोंको जानता है, तबतक आत्माको नहीं जान पाता। विषयसे विरक्त होनेपर ही वह आत्माको जान सकता है। विषयोंसे दूर होनेके लिए एक ऐसा स्वस्थ साधन रखना आवश्यक है जिससे पूर्तिमें विषयों—सुखोंसे अधिक आनन्द मिले। अनित्य आदि बारह भावना और मैत्री आदि चार भावनाओंका अभ्यास भी विषय विरक्तिका एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। चित्तमें जो प्रवाह चल रहा है उसको दूसरी ओर मोड़नेके लिए भावनाओंका बार-बार अभ्यास करना आवश्यक

है। समुद्रकी तरह आत्माकी भी दो अवस्थाएं होती हैं—प्रशान्त और तरंगित।

> रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
> स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः॥

राग और द्वेषसे जिसका मन तरंगित नहीं है, वही आत्म-तत्त्वको पाता है। आत्माके प्रति दृढ़ आस्था पैदा हुए बिना आनन्द नहीं मिलता। उसकी उपलब्धिके लिए ममत्व त्यागकी भावना होनेपर सब उपलब्धियाँ हो जाती हैं। सब प्राप्य है पर अध्यात्म अप्राप्य है। साधु जीवनके प्रति आकर्षण इसलिए है कि अन्यत्र जो अप्राप्य है वह इसमें प्राप्य है। भोगोंकी तरंगित दशा विकराल होती है। वह शारीरिक और मानसिक बाधाएँ उत्पन्न करती है। भूख लगती है, ध्यान टूट जाता है। प्यास लगती है, एकाग्रता भंग हो जाती है। क्रोध आता है, चित्त चंचल हो उठता है। इस अवस्थामें जो प्राप्य है वह दुनियाके किसी भी व्यक्तिको प्राप्य है। विषयका वैराग्य और आवेशपर विजय पाना हर किसीको प्राप्य नहीं है।

प्रश्न हो सकता है—देह है तो इन्द्रिय विषयोंकी माँग बनी रहेगी। प्रवृत्ति भी रहेगी। वह रहेगी उसे कौन अस्वीकार करता है। पर उसके साथ जो मानसिक लगाव है वह रहेगा यह जरूरी नहीं है। वह छोड़ा जा सकता है। इसलिए भगवान् महावीरने कहा—निर्वेदका फल है सब भोगोंके प्रति विरक्ति। निर्वेदका दूसरा फल है आरम्भका परित्याग। जहाँ भोग है वहाँ आरम्भ है। जब ही भोगोंसे विरक्ति होती है वैसे ही आरम्भके प्रति उदासीनता आ जाती है। उससे संसार मार्ग विच्छिन्न हो जाता है।

हर प्रवृत्तिके साथ बंधन लगा हुआ है, जैसे अग्निके साथ धुआँ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः। प्रवृत्तिसे कर्मबंधन होता है, निवृत्तिसे वह दूर होता है। जहाँ प्रवृत्ति है वहाँ अवश्य बंधन है

उसर दूसरे वस्तु भी रह जाती है। वस्तुओं सहित मन हो समत् बन जाता है। मुक्तात्मा पदके प्रति श्रद्धा होती है उनमें विराग होता है। विराग प्रति आकर्षण किसी प्रत्यक्ष नष्ट हो जाता है।

प्रवृत्तिके हेतु

भारतीय दर्शनकी परंपरा सामाजिक जीवनकी परिकल्पना चार पुरुषार्थोंमें की गई है। वे हैं—काम, अर्थ, मोक्ष और धर्म। इनमें काम और मोक्ष ये साध्य हैं और धर्म तथा अर्थ साधन हैं। काम शरीर प्रधान प्रवृत्ति है, अर्थ उसकी पूर्तिका साधन है। मोक्ष आत्माकी सहज प्रवृत्ति है, धर्म उसकी पूर्तिका साधन है।

आध्यात्मिकता मोक्ष स्वतन्त्रता—ये अभिन्न शब्द हैं। जो स्वतन्त्रता चाहता है वह मोक्ष के प्रति आस्थावान् नहीं है।

समाजविज्ञानके आचार्य डॉ० फ्रॉयडने कामको इन प्रवृत्तियोंका मूल माना है। सांख्यके आचार्य कार्ल मार्क्सने सारी प्रवृत्तियोंका मूल अर्थ माना है। उनके अभिमतमें अर्थपर ही सारे विकास आधारित हैं। अध्यात्मके आचार्य सारी प्रवृत्तियोंका मूल मोह मानते हैं। काम और अर्थका सिद्धान्त गौण है। पुरुषार्थचतुष्टयकी कल्पना परिपूर्ण है। मोहकी तरह निर्मोह भी प्रवृत्तिका हेतु है। सुखके लिए हर मनुष्य प्रवृत्ति करता है। भगवान् महावीरने कहा—धर्म श्रद्धासे सुखके प्रति विराग होता है। यदि मोह ही प्रवृत्तिका हेतु होता तो साधु इतना कष्ट क्यों झेलते? सुख दो प्रकारका है—साबाध और अनाबाध। जिस सुखमें बाधा उपस्थित हो सके वह साबाध और जिसमें बाधा न डाली जा सके वह अनाबाध है। दूसरा व्यक्ति उसमें धूलि डालता है, सुखमें बाधा आ जाती है। क्षणिक सुख अवश्य है पर निर्बाध नहीं। प्रशंसासे सुखी होने वाले के सुखमें निन्दासे बाधा पहुँचायी जा सकती है। निन्दा और प्रशंसा की भूमिसे जो ऊपर उठा हुआ है उसके सुखमें बाधा नहीं डाली जा

अथवा जिसका मैं पौद्गलिक सुख है वह सब अनर्थकारी है। एक प्रकार गवेषणा से [illegible] गया है। १० [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], अथवा नहीं [illegible]। [illegible] अप्रिय [illegible] है। [illegible] [illegible] आता था [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रकाशित नहीं आया। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आता है। [illegible] [illegible] [illegible] बार एकत्रित होता है इसलिए वह अनर्थकारी है।



सहिष्णुता

सहिष्णुता अच्छी है, यह सब स्वीकार करते हैं। पर समयपर उसे पकड़े रखना कठिन है, यह भी अनुभव करते हैं। फलित यह हुआ कि सहिष्णुताकी साधना जीवनमें आवश्यक है किन्तु कठिन भी है। पहले उसे ध्येय मानकर चलनेसे वृत्तियोंमें अवश्य अन्तर आता है। हम साधु हैं, हमारा एक निश्चित लक्ष्य है। उसकी सिद्धिके लिए सहिष्णुताका विकास करना आवश्यक है। सहन गृहस्थको भी करना पड़ता है क्योंकि उसके बिना कोई गति नहीं। गणसे बहिर्भूत एक साधु मेरे पास आया। वह साधु अवस्थामें आचार्यके वचनको भी सहन करनेमें अक्षम था। अब वह किसीके यहाँ नौकरी करता है और मालिकके उपालम्भको भी सहता है। मैंने पूछा—क्या तुम सन्त हो?

वह बोल न सका। नौकरीमें अनेक विवशताओंको सहना पड़ता है क्योंकि दूसरी ओर रोटीकी समस्या है। साधुओंके सामने रोटीकी समस्या नहीं है। इसलिए वे कभी-कभी वास्तविकतासे दूर चले जाते हैं। रोटीका प्रश्न लेकर चलनेवाला धरतीपर चलता है पर जिसके सामने रोटीकी समस्या नहीं है वह कभी-कभी कल्पनालोकमें भी चलने लग जाता है। इसलिए सम्भव है कि इस अर्थमें गृहस्थके चिन्तनमें यथार्थता रहती है। चिन्तनकी अपरिपक्वतामें क्षुद्र व्यक्तियोंका संयोग अनिष्टकर होता है। इसीलिए भगवान् महावीरने कहा—क्षुद्र व्यक्तियोंका संसर्ग मत करो। वे साधुओंको अपने प्रलोभनमें फंसाकर पथ-च्युत कर देते हैं। उनको लगता है कि संसार सुखका समुद्र है। यहाँ साधुपनमें कुछ नहीं। दूरसे सब अच्छा लगता है। बहकावेमें आनेवालोंकी स्थिति दयनीय हो जाती है।

कोई-कोई व्यक्ति थोड़ी-सी कठिनाईमें घबरा जाते हैं। थोड़ी-सी सहिष्णुता न होनेसे ही ऐसा होता है। जरा सोचें—कठिनाई कहाँ नहीं है? क्या गृहस्थ जीवनमें कठिनाइयाँ नहीं हैं? साधु जीवनमें नहीं? गरमी भूख प्यासकी कठिनाइयाँ समय-समयपर आती हैं और मान अपमान निन्दा आदिकी स्थितियाँ भी आती हैं। क्या इनसे घबराकर पीछे हट जाना बुद्धिमानी है? जब मार्ग हमने जान-बूझकर स्वीकार किया है फिर घबरानेकी क्या बात है? कठिनाइयोंमें घबराना रोगका गहरा लक्षण नहीं है। उसका सही इलाज यह है कि कठिनाइयोंको मनमें साक्षीभाव सामने रखें और उनसे मार्गदर्शन लें। इससे मनका बोझ हलका हो जाता है। रोगी आदमी अपनी नाड़ीको वैद्यके हाथमें दे देता है वैसे ही मनकी चिकित्साके लिए अच्छे वैद्य (गुरु आदि) को चुनना चाहिए। शरीरकी दवाकी तरह मानसिक शक्तिको कुशलताका भी विचार होना चाहिए। मानसिक चिकित्सक चुननेके बाद उसके सामने स्थिति स्पष्ट रखनी चाहिए और होना चाहिए उसके मार्गदर्शनमें समर्पण भाव। चिकित्साके समय रोगका उभार आता है पर वह सीमासे बाहर नहीं जाता क्योंकि चिकित्सक उसपर नियंत्रण रखता है। इसी प्रकार मानसिक रोग भी कभी कभी चिकित्साकालमें उभर आता है पर कुशल चिकित्सककी देखरेखमें वह सीमाका अतिक्रमण नहीं करता। इसीलिए मानसिक स्वस्थताके लिए कुशल चिकित्सकका मार्गदर्शन लेना अत्यन्त आवश्यक है। उसका सहिष्णुताके विकासमें बहुत बड़ा योग हो सकता है।

व्यक्ति अपनी गलतीसे अथवा झूठे अभियोगोंसे स्थानसे हटा दिया जाता है। उस समय वह परिस्थितिसे बाध्य होकर यदि निष्क्रिय बनता है तो परिस्थितियाँ उसपर छा जाती हैं और उसे उठनेका अवसर नहीं देतीं।

जो वर्तमानमें अपमानकी घूट पीकर भी अपनी कर्तृत्व शक्तिका

उपयोग करता है उसका समय भी साथ निभाता है। वह असमानको पीछे छोड़कर समाजमें सम्मानजनक स्थान बना लेता है। इसलिए हर परिस्थितिमें अपनी शक्तिका प्रयोग करनेवाला कभी निराश नहीं होता।



समर्पण

समर्पण दो प्रकारका होता है—१ वैधानिक २ आत्मगत।

आचार्य संघके नायक हैं, हमारे नियामक हैं। उनके आदेशानुसार हमारा सारा व्यवहार चलता है। इस दृष्टिसे उनको हमारा वैधानिक समर्पण है। वे आज हमें हजार मीलकी यात्राका आदेश दें तो हम उसका पालन करेंगे। पर मैं आज जिस विषयको स्पर्श कर रहा हूं उसमें वैधानिक समर्पणकी बात नहीं होगी। हजार मील चलकर जाना एक बात है और हजार मील चलकर आत्मिक कृतार्थताका अनुभव करना दूसरी बात है। कृतार्थताका अनुभव आत्मगत समर्पणमें ही हो सकता है। जहां व्यक्तिका विलय होता है, वहीं समर्पणकी भावना प्रधान रहती है। कृष्णने अर्जुनसे कहा— मामेकं शरणं व्रज। व्यवहारमें यह जटिल-सा लगता है और लगता है कि इसमें अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता। वह दूसरेमें विलीन हो जाता है। यह भी कम जटिल नहीं है कि जो समर्पित नहीं हुआ वह कुछ पा भी नहीं सका। क्या महावीर, बुद्ध और भिक्षुने समर्पण नहीं किया? किया है, उसके बिना उनकी साधना सिद्धि तक कैसे पहुंच पाती? बुद्धने कहा—

> इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
> अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति।

जबतक बोधि प्राप्त नहीं होगी, इस आसनसे मेरा शरीर नहीं चलेगा। क्या यह समर्पण नहीं है? क्या महावीरने समर्पण नहीं किया? 'मैं जबतक कैवल्य प्राप्त नहीं होगा तबतक मैं सभी प्रकारके कष्टोंको सहन करूंगा।' क्या यह समर्पण नहीं है? ऐसा समर्पण उन सब महा-

पुरुषोंने किया है जिनकी महानतासे जनताको मार्गदर्शन मिला। जबतक मनुष्य अपनी वृत्तियोंका भार ढोता है तबतक वह भारी बना रहता है। समर्पणसे व्यक्ति हलका बना रहता है। लेनेवाला भले ही भारी बने। श्रद्धा देनेवालेकी अपेक्षा लेनेवालेको बड़ी पूर्ति होती है।

व्यक्तिको सबसे पहले समर्पित अपने प्रति, अपने लक्ष्यके प्रति होना चाहिए। उससे आचार्यके प्रति वह सहज समर्पित हो जायेगा। लक्ष्यके प्रति समर्पित हुए बिना वह आचार्यके प्रति भी समर्पित नहीं हो पाता। आचार्यके साथ जो सम्बन्ध है वह लक्ष्यकी एकताके आधारपर है। लक्ष्य अविकल रहता है तबतक समर्पणका अभाव अखिल रहता है। जिसका लक्ष्य महान् सत्यकी प्राप्ति है वह उसके लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देगा।

लक्ष्यके बाद मार्गदर्शकके प्रति समर्पण होना चाहिए। क्योंकि वे लक्ष्यसे भिन्न होते हैं। हमारे मार्गदर्शक आचार्य हैं। उनके प्रति समर्पण दो दृष्टियोंसे होता है—वैधानिक और आत्मिक। वैधानिक समर्पण बुद्धिका स्पर्श करता है, उससे हृदय अभिभूत नहीं होता। हमारे लिए वैधानिक समर्पण बहुत मूल्यवान् नहीं होना चाहिए। विधानमात्र प्रेरक होता है और मर्यादाएं मात्र सूचक होती हैं। साधुओंके रजोहरणको श्रावक लोग लांघकर नहीं जाते क्योंकि उसमें सूचक शक्ति है वह किसीको नहीं रोकता फिर भी कोई उसे लांघकर नहीं जाता। जिस वैधानिकताके पीछे आत्मीयता नहीं होती वहाँ प्रामाणिकता दिखावा मात्र होती है। कोई दूसरा देखता है तब आचार्यके आदेशका पालन किया जाय और कोई नहीं देखता हो तब आचार्यके आदेशका अतिक्रमण करनेमें कोई संकोच नहीं होता। इस स्थितिमें आत्माका उदय नहीं होता।

जहाँ गुरु शिष्यका सम्बन्ध वैधानिक नहीं होता वहाँ आत्माका उदय होता है। जहाँ वैधानिकता प्रबल होती है वहाँ आत्मा दब जाती है। एक विचार आता है—हम दूसरेमें अपना अस्तित्व विलीन क्यों करें?

हमारा भी [illegible] हैं [illegible] आ रहे हैं। इन
विचारोंमें समर्पणमें कठिनाई आती है। [illegible] है कि
हमारा मार्ग साधनाका मार्ग [illegible] है।

'छंद निरोहेण उवेइ मोक्खं'—

मोक्ष तभी प्राप्त होगा जब अपनी इच्छाओंका [illegible] करेंगे।
इच्छाका निरोध और समर्पण दो नहीं है। [illegible] है वहीं
समर्पण है। जहाँ समर्पण है वहीं इच्छाका निरोध है।

आचार्य उस कार्यके लिए मार्गदर्शन देते हैं कि [illegible]
न। उस मार्गदर्शनके प्रति यदि [illegible]
समझना चाहिए कि समर्पण नहीं है। [illegible]
कुछ नहीं रखना। [illegible] दोष रखे, [illegible]
आदेश पाते ही शिष्य बिना ननु न च किए [illegible]
समर्पण है। भगवान् महावीरने गौतमको [illegible]
वे तत्काल भागते चले गये। विधानका [illegible]
सकती। विधानकी भाषामें चलकर [illegible]
साधक प्रति अपने आपका समर्पण कर [illegible] है।
कठिनाईमें भी आस्था न डिगे तब मानना [illegible]
हुआ समर्पण है। आत्म समर्पणमें अपनी [illegible]
नहीं होता। जहाँ समर्पण नहीं होता वहाँ [illegible]
साधकके प्रति श्रद्धा नहीं जमती।

मैं साधक हूँ अमुक व्यक्ति मेरा [illegible] है, [illegible]
मेरा [illegible] है। आचार्य यदि कहें कि तुम [illegible]
पारा चढ़ जाता है। क्या हमने समर्पण [illegible] कि [illegible]
तरह इधर उधर ढकेला जाय—क्या [illegible]
आचार्य हमारी स्थितियोंको अनुभव ही [illegible]
घूमने लग जाते हैं। समझना चाहिए—[illegible]

मिला है। जहाँ व्यक्ति अपना चिन्तन मार्ग-दर्शकसे अधिक मानने लग जाता है वहाँ ऐसी समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। मार्ग-दर्शकके चिन्तनपर आस्था रखनेवालेको कोई कठिनाई नहीं होती। द्रोणाचार्यने एकलव्यसे अँगूठा माँगा। उसने तत्काल काटकर दे दिया। वहाँ विचारकी कोई भाषा नहीं थी कि उसे देना ही पड़े। उसने सोचा कि जिसको मन गुरु मान लिया उसके प्रति मेरा क्या कर्तव्य है।

उसने अपने कर्तव्यका पालन किया और अँगूठा दे दिया। कभी कभी गुरु और आचार्य अलग-अलग होते हैं। एक गुरु होते हैं पर आचार्य नहीं एक आचार्य होते हैं पर गुरु नहीं। गुरुके प्रति सहज समर्पण होता है। आचार्यके प्रति वह सहज रूपमें नहीं भी होता पर व्यवस्थाके नाते भी आचार्यके प्रति समर्पण आवश्यक है। आचार्य भी हर साधुसे इतनी अपेक्षा तो रख सकते हैं कि कमसे कम कर्तव्यके नाते समर्पणमें कोई कठिनाई न आये। गुरुके नाते हो तो और अच्छा। मेरा अपना अनुभव है—

एक समय चिन्तन किसे कहा जाता है, मैं नहीं जानता था। केवल गुरु-वचनके आधारपर कार्य चलता था। वैसे ही संस्कार पड़ गये। किसी युवकको यह अच्छा भी न लगे पर ऐसा होता था। जब चिन्तन होने लगा तो देखा अपने लिए चिन्तन करनेसे निरन्तर भार बढ़ता है। क्या अच्छा हो उस भारको उठानेके लिए दूसरोंको चुन लें और स्वयं हल्के हो जायें। चिन्तासे मुक्त रहना सुन्दर स्थिति है पर कृत्रिम मोह सताता है कि उससे हमारा स्वातन्त्र्य छिन जाता है। जब हम विहार करते हैं तब थकानके कारण क्या दूसरेको अपना वजन नहीं देते। अपना जीवन लम्बा है इसलिए अपनी चिन्ताओंको घटानेके लिए दूसरोंको सहयोगी बनायें जो हमारा भार ढोयें और हम सुखसे सोयें। इससे सरस जीवन बितानेका अवसर मिलता है। निश्चिन्तताका जीवन तभी मिलता है जब चिन्ताका भार कोई स्वयं न ढोये। दूसरोंको भारवान् बनाना ही समर्पण है।



मिलता है तब भी उपवास किया जा सकता है और अपनी स्वतंत्र भावना से किया जा सकता है। जनको कोई कमी नहीं है पर साधुको शुद्ध आहार नहीं मिला या कम मिला उस समय उसका चिन्तन यह नहीं होता कि सब लोग खा रहे हैं मैं भूखा क्यों रहूँ? किन्तु वह इस प्रकार सोचेगा कि आज सहज ही मेरे उपवास या ऊनोदरी हो गया। भगवानने कहा— लाभोत्ति अहियासए —आहार न मिलने या कम मिलनेपर सहज तप हो रहा है यह सोचकर भूखपर विजय पा लेनी चाहिए।

एक व्यक्ति गाली देता है सामान्य दुर्बलताके कारण दूसरा उसे पाँच गाली देता है। यह व्यक्तिपर परिस्थितिकी विजय है। मुनिको परिस्थितिसे प्रभावित नहीं होना चाहिए। उसे धम्मोत्ति भिक्खू सहन करना मेरा धर्म है ऐसा सोच शान्त रहना चाहिए।

गतेः गाड्य समाचरत—यह मान्यता आजके समाजमें भी दुहरती जा रही है। हम जीते हैं जन-शासनमें और मान्यता लेकर चलते हैं समाजकी और वह भी मध्यकालीन समाजकी। यह कब उचित हो सकता है? हमारी मान्यताका आधार वीतराग होना चाहिए।

अनुकरण वृत्ति संक्रामक होती है। उसमें मूलभूत मान्यता निस्तेज बन जाती है। साधुत्व स्वीकारके समय कोई यह कल्पना नहीं करता कि अमुक अमुक ठाट रहेंगे तो मैं भी ठीक रहूँगा। व्यक्तित्व पीछे बँध जानेसे सिद्धान्तका साथ नहीं निभ पाता। सत्यनिष्ठ व्यक्तिसे कोई गलती हो जाय तो वह क्षम्य है पर परिस्थितिके प्रहार हो वह क्षम्य नहीं है। आध्यात्मिक व्यक्तित्व सत्यनिष्ठाके विचार प्रगाढ़ होने चाहिए। भगवान् महावीरने कहा है—दिवा वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा। दिनमें अथवा रात्रिमें सभामें या अकेलेमें, स्वप्नमें या जागृत अवस्थामें आध्यात्मिक व्यक्ति कोई अनुचित काम नहीं करता। मातान अग्निको धधकता हुई गतक तत्पर स्व होकर कहा—

मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे
यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि।
तदिह दह शरीरं मामकं पावकेदं
विकृतसुकृतभाजां येन साक्षी त्वमेव॥

कभी भी मेरा मन विचलित हुआ हो तो तू मेरा [illegible] ऐसी बात कोई आध्यात्मिक व्यक्ति ही कह सकता है [illegible] कह सकता।

साधु परिषद्में प्रामाणिकताकी चर्चा करने [illegible] कोई आध्यात्मिक है और प्रामाणिक नहीं है ऐसा [illegible] यह भी नहीं हो सकता कि कोई प्रामाणिक हो [illegible] है। साधु वे ही होते हैं जिनको आध्यात्मिक [illegible] इसलिए साधु परिषद्में प्रामाणिकताकी चर्चा [illegible] सकता। हमारी प्रामाणिकताका भाषा सूत्र है—[illegible] करो जो न किया वह मत करो।

भगवान महावीरने प्रामाणिकताका [illegible] उन्होंने बताया—एक साधु गृहस्थ घरमें [illegible] सीऊंगा—यह कहकर सुई लाया तो वह उससे [illegible] सी सकता। नाखून काटूंगा—यह कहकर [illegible] नहीं काट सकता। आचार्य भिक्षु [illegible] हुए लाया तो उसे कोई दूसरा साधु नहीं [illegible] यह कितना गहरा निश्चय है। इस [illegible] आध्यात्मिक है।

परिस्थितिपर विजय

कल मैं अपनी आस्थाके स्वरमें [illegible] आया हूं। परिस्थितिका कभी कारण [illegible]

सम्भव है? यह प्रश्न हो सकता है। मैं इसका उत्तर इसी भाषामें दूंगा कि यह असम्भव नहीं है। सच तो यह है कि साधकको परिस्थितिके सामने घुटने नहीं टेकने चाहिए। वह पतनका मार्ग है। साधना करने वाला पथ नहीं खोता पर जब वह परिस्थितिके आवरणमें अपना अपनापन खो देने लग जाता है तब उसकी साधना खतरेमें पड़ जाता है। जो साधक होता है वह परिस्थितिके साथ अपनी स्वतन्त्रताको भी बचानेका प्रयत्न करता है। जो ऐसा करता है वह परिस्थितिके सामने घुटने नहीं टेकता। कठिनाइयाँ हर व्यक्तिके सामने आती हैं और परिस्थितियाँ हर व्यक्तिको उलझाती हैं पर उनसे पराजित वे ही होते हैं जिनके पास साधनाका बल नहीं होता। दूसरी बात — साधक संरक्षणसे शून्य नहीं होता। उसका कर्तव्य है जो स्थिति आये उसे संरक्षकके सामने रख दे। अपने सिरपर उसका भार न ढोये। आचार्य व अधिकारी व्यक्ति उसपर अपने आप सोचेंगे। सोचना हर व्यक्तिका काम नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति परिस्थितिकी चिन्तामें रत रहे तो शासन गड़बड़ा जाय।

हम परिस्थितिसे घबरायें नहीं। मेरा धर्म है ऐसा मान कार्य करते रहें। जहाँ कठिनाई आये उसे यथास्थान पहुँचा दें। उसे उचित स्थानपर न पहुँचाना कारण हो समाज व व्यक्तिके लिए अनिष्ट होता है। परिस्थितियोंपर चिन्तन करने व उसे दूर करनेका दायित्व अधिकारियोंपर है। उनका यह प्रयास रहे कि किसीको असंतोषका अनुभव न हो। जो असन्तोष होता है वह अव्यवस्थासे होता है। उसे दूर करना अधिकृत वर्गका काम है। हमारा काम है—परिस्थितिका कायल न होना सहिष्णु बनकर उसका सामना करना और अपनी आस्थाको बनाये रखना। आलोचना जीवनको अस्त-व्यस्त बना देता है। परिस्थितिसे पराजित होकर थोड़ी भी कठिनाईको न सहन करना क्या बुद्धिमत्ता है? परिस्थितियाँ आयें, उनका उचित समाधान खोजें, पर उनसे पराजित

न हो। मूल-स्थानकी परिस्थिति सामने प्रस्तुत किया जाकर उसका समाधान [illegible] रहे हैं। अब हम [illegible] परिस्थिति [illegible] अधिक उदार भावें। सामना तभी उज्ज्वल भावी बन [illegible] [illegible] मानकर महत्व दिया जाएगा।



परस्परता

साधनाके दो रूप हैं—वैयक्तिक और सामुदायिक। हमारा संगठन है, गण है, संघ चलता है, परस्पर सहयोग है, आलम्बन है। जहाँ अनेक व्यक्ति साथ रहते हैं वहाँ कठिनाई भी आती है। अपनी अपनी रुचि होती है, अपना अपना संस्कार। सब एक रुचिके नहीं होते। चिन्तन भी सबका एक नहीं होता। यह विविधता मान्य भी है। भगवान् महावीरने कहा—

पत्तेयं सण्णा पत्तेयं विन्नू पत्तेयं वयणा।

यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका सम्मान है। हम परस्पर रुचि व संस्कारका सम्मान करके ही अच्छा जीवन बिता सकते हैं, नहीं तो वैमनस्य बढ़ जाता है। चेतन जगत्में ही व्यक्ति स्वातन्त्र्य होता है। यदि हम यन्त्र जगत्में होते तो सब एक रूपमें एक समान होते। मनुष्य चेतनावान् है। चेतनाका धर्म है — विभिन्नता—रुचि व संस्कारोंकी विभिन्नता।

पारस्परिकताका पहला सूत्र है—सहिष्णुता। साधकोंको मर्यादाके अतिरिक्त रुचि भेदको परस्पर सहन करना चाहिए। अग्रगण्यको अपने सहगामी और सहगामीको अपने अग्रगण्यकी रुचिका सम्मान करना चाहिए। जहाँ दोनोंकी रुचि टकराये वहाँ दोनोंको ही थोड़ा थोड़ा संयम कर लेना चाहिए।

जहाँ सहन करनेकी शक्ति कम होती है वहाँ परस्पर कलह होता है। साधुओंमें सहिष्णुता अधिक होनी चाहिए। आखिर गृहस्थ भी तो सहन करते हैं। पुरानी कहानी है—चीनका बादशाह अपने मन्त्रीके घर गया। उसका परिवार बड़ा था। सब साथ रहते थे। बादशाहने जिज्ञासा की—तुमने सबको कैसे निभाया? मन्त्रीने उत्तर दिया—मैंने सब कुछ सहा।

संघमें आचार्य सर्वाधिकारसम्पन्न होते हैं। फिर भी समय-समयपर बहुत-कुछ सहते हैं। सहन करना बड़प्पनका लक्षण है। जो छोटे हैं उनको अपने अग्रगामीका सहन करनेका अधिक विकास करना चाहिए ऐसा करके ही वे छोटोंको सहिष्णुताका पाठ पढ़ा सकते हैं।

कोई व्यक्ति स्खलना करता है। दूसरा उसे न बताए तो गलती आगे बढ़ती है और संघका संघटन शिथिल होता है। यदि बताया जाए तो उसे चोट-सी लगती है। ऐसी स्थितिमें तीसरा मार्ग अपनाना चाहिए। गलतीका प्रतिकार अवश्य होना चाहिए पर भावना-शुद्धिके साथ। अधिकारकी भाषाके स्थानपर सुझावकी भाषा अधिक सुफल देती है। जितना बहुत है उतना काम करता है। इसके स्थानपर—यदि तुम ऐसा नहीं करते तो अच्छा रहता, या ऐसा करते तो अच्छा रहता।—ये वाक्य गलती बताते हुए भी उसे उग्र बननेका अवसर नहीं देते। सुझावकी भाषामें सहजतः उसे बुरा नहीं लगता। यह अध्यात्म-पद्धति है हृदय परिवर्तनका मार्ग है। इसे अपनानेपर हम उसे आत्म-नमनका अवसर देते हैं। हृदय परिवर्तनके प्रयोग अनेक क्षेत्रोंमें किये जा रहे हैं। कुछ क्षेत्रोंमें भी उन्हें महत्त्व दिया जा रहा है। आचार्य भिक्षुने कहा है—दमन बल प्रयोगसे नहीं होता वह हृदय परिवर्तनसे होता है।

छोटे साधु बड़े साधुकी गलती देखें तो उसे नम्रतासे सूचित करना चाहिए। भाषाका व्यवहार सम्यक् होनेसे शोधनकी पद्धति भी ठीक हो जाती है। कटु भाषासे व्यवहार भी कटु बन जाता है। बहुत-कुछ दिन रातका अन्तर होता है। शिष्ट शब्दोंमें दिया गया उपालम्भ भी हृदयमें नहीं चुभता। इसीलिए भगवान् महावीरने भाषाका विवेक दिया। भाषाके विषयमें जितना भगवान् महावीरने कहा उतना शायद ही किसीने कहा हो।

भाषाके व्यावहारिक पहलूपर भी ध्यान देना आवश्यक है

१ जहाँ दूसरोंसे सहयोग लेनेकी अपेक्षा हो वहाँ 'कृपया' शब्दका प्रयोग

करना चाहिए। प्राचीन पद्धतिमें 'इच्छाकारेण' शब्द प्रयोगमें आता था। आचार्य भी विशेष परिस्थितिमें ही आदेशकी भाषाका प्रयोग करते थे। सामान्यतः इच्छाकारेण शब्द प्रयोगमें आता था। पाश्चात्य देशोंमें Please (कृपया) शब्द सामान्यतः व्यवहृत होता है। २ कार्य समाप्तिपर कृतज्ञोऽस्मि शब्दके द्वारा आभार प्रदर्शन करें। ३ अविनय या आशातना होनेपर खेद है ऐसा हो गया' शब्दोंके द्वारा खेद प्रकट करें। ४ कोई कार्य करनेका मन हो उस समय न कर सकें तो कहें—मुझे क्षमा करें अभी मैं आपका कार्य करनेमें असमर्थ हूँ। ५ स्वीकृतिमें 'तहत्' शब्दका प्रयोग होना चाहिए। ६ अनुभूतिकी भिन्नताके कारण छोटे छोटे प्रसंग भी आग्रहका रूप ले लेते हैं। आग्रहकी स्थितिमें—मैं सोचूंगा, मुझे ऐसा लगा, सम्भव है आप कहते हैं वैसा भी आदि-आदि वाक्योंके द्वारा उसको टाल देना चाहिए। आग्रह तत्काल जो बनता है समयके बाद टल जाता है। ७ एक व्यक्ति दूसरेके विषयमें शिकायत करता है। बात अन्यथा निकलती है। उस समय आरोप क्यों लगाया ऐसे भारी वाक्य न कहकर मुझे आश्चर्य है आपने ऐसी बात कैसे कही आदि वाक्योंका प्रयोग व्यवहारमें सरसता लाता है। भाषा कटु होनेसे व्यवहार टूट जाता है इसलिए सामुदायिक जीवनमें भाषाका नम्र प्रयोग आवश्यक होता है। ८ बात अपने-आपमें बड़ी नहीं होती। कुछ लोग छोटी बातको भी महाभारत बना देते हैं और आध्यात्मिक व्यक्ति बड़ी बातको भी दो मिनिटमें समाप्त कर देते हैं।

उत्तेजना पैदा करनेवाली बात सामने आये तो उसे शान्तिसे सोचना चाहिए कुछ विचार कर फिर उत्तर देना चाहिए।

शमार्थं सर्वशास्त्राणि विहितानि मनीषिभिः।
स एव सर्वशास्त्रज्ञः यस्य शान्तं सदा मनः॥

शास्त्रोंकी रचना शान्तिके हेतु हुई। जिसका मन शान्त है वह शास्त्र

वित है। पग-पगपर जो अशान्त बने वह कब शान्त हो सकता है।

> पच्चप्पति जम्म धम धम धास्स गुरुणा विवाइए मास
> रागद्दोसण वि अणुस्सण त गोयम त गच्छ।

—थोड़ा सा प्रतिकूल सुनकर राग-द्वेषमें चले जाते हैं, वह ... सोचता है—मैंने इस बात को भूल की, ऐसे अधीर साधकोंका संघ गच्छ नहीं कहलाता।

जहाँ कटु या प्रतिकूल स्थितिको शान्त मनसे सहा जाता है, वहाँ गण वस्तुतः गण होता है। उसीमें रत्नत्रयात्मक सामुदायिक जीवन सुखद, सरल और पारस्परिकतामय पूर्ण होता है।



तुम अनन्त शक्तिके स्रोत हो

तुम केवल देह मात्र नहीं हो और भी कुछ हो। देहसे आगे तुम्हारी इंद्रियाँ हैं। उनसे आगे मन है। उससे आगे है आत्मा। तुम आत्माको मानो या मत मानो यह तुम्हारी इच्छा है। क्योंकि वह अरूपी है। तुम चपल हो। तुम स्थिर बनकर देखो कि आत्मा नहीं है तो शायद नहीं कह सकोगे।

क्या तुम जानते हो—तुम्हारे अन्तरमें कितनी शक्ति है? नहीं जानते। यदि जानते तो तुम नहीं कहते कि आत्मा नहीं है। भले कहो आत्मा नहीं है इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। पर आत्मा नहीं है, इसे मानकर तुम्हीं अनन्त आनन्दसे वंचित रहते हो। प्रो० ल्यानिद वासिलियव का कहना है कि मस्तिष्क शोध संस्थान तथा दूसरे संस्थानोंमें किये गये परीक्षणोंके आधारपर मैं इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि मानव मस्तिष्कमें शक्तिका अजेय और अनन्त स्रोत है। यह काफी दूर बैठकर दूसरोंको सम्मोहित कर सकता है। मानव-मस्तिष्ककी यह शक्ति चुम्बकीय तरंगें नहीं है। उनसे भिन्न है। इसके बारेमें अभी कोई पता नहीं चल सका है।

तुम चेतन मनके चंगुलमें फँसे हुए हो। इसीलिए तुम अपनी असीम क्षमताओंसे अनजान हो। तुम अवचेतन मनको अवसर दो फिर देखो कि तुम्हारी क्षमताएँ किस प्रकार प्रकट होती हैं और तुम कितने शक्तिशाली बनते हो। तुम एक मनोवैज्ञानिकसे पूछो—चेतन मनकी अपेक्षा अवचेतन मन कितना शक्तिशाली है? भारतीय धर्मविज्ञान ध्यानको सर्वोपरि क्यों माना? इसीलिए कि चेतन मनको एकाग्र किये बिना अवचेतन मन क्रिया

नीरव नहीं बनता। उसके क्रियाशील मन बिना शक्तियाँ प्रकट नहीं होतीं।

तुम प्रवृत्तिकी रट लगाते-लगाते सत्यसे बहुत दूर आ चले। प्रवृत्ति यानी चञ्चलता। यह तुम्हारे जीवनका नियम हो सकती है, पर सत्य तुम्हारे जीवनका नियम नहीं है। वह अस्तित्वका नियम है। उसे तुम निवृत्तिके द्वारा ही पा सकते हो। निवृत्ति यानी स्थिरता। तुम स्थिर जलमें ही अपना प्रतिबिम्ब देख सकते हो, चञ्चलमें नहीं। तुम सत्यकी खोज करना चाहते हो तो और कुछ मत करो। केवल ध्यान करो। चेतन मनको एकाग्र करो। अवचेतन मनको अपनी शक्तिके प्रकटीकरणका अवसर दो।

ध्यान करो—यह बहुत सरल बात है। इसे समझनेमें कोई कठिनाई नहीं। पर बहुधा ऐसा होता है कि शब्दोंकी सरलतामें छिपी हुई गम्भीरताको नापना सरल नहीं होता। ध्यानके लिए या किसी अनुष्ठानके लिए बहुत तपना पड़ता है और इतना खपना पड़ता है कि [illegible] किसी कार्यके लिए शायद नहीं खपना पड़ता। क्योंकि [illegible] प्रवृत्तिका वातावरण है। हमारा शरीर चञ्चल है। हमारी इन्द्रियाँ चञ्चल हैं। हमारा मन चञ्चल है। भूख लगती है, इन्द्रियाँ [illegible] मन चञ्चल हो जाता है, एक प्रकम्पन हो उठता है। [illegible] जन्म देती है। भूख मिटानेको रोटी आवश्यक होती है, [illegible] आवश्यक होता है। उसके लिए व्यापार और [illegible] और [illegible] कुछ। इस प्रकार एक प्रवृत्तिके लिए हजार प्रवृत्तियाँ [illegible] हैं, एक प्रवृत्तिमेंसे हजार प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं।

क्रोध आता है। इन्द्रिय, मन और [illegible] उठते हैं। उसकी शान्तिके लिए तुम क्रोधके कारणका निवारण करते हो। [illegible] भी तुम्हारी प्रवृत्तियोंकी कड़ी टूट नहीं पाती। [illegible] हिंसासे हिंसा पराजित हो और [illegible]

है ? यदि गीता का प्रवर युग हो सकता अणु अस्त्रोंका युग कैसे आता ?

तुम मत मानो आज निवृत्तिकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। इसे पलायनवाद कहकर उपेक्षित करते रहोगे तो एक दिन यह संसार मानसिक रोगियोंका कारागृह बन जायगा।

आजके यांत्रिक युगमें मानव मनपर जितना भावनात्मक दबाव पड़ रहा है, जितनी वैचारिक क्रान्ति बढ़ रही है, जितना नाड़ी संस्थानका तनाव बढ़ रहा है उतना पहले नहीं था। अधिकांश रोगोंका कारण यह तनाव बन रहा है। क्या शिथिलीकरणसे अधिक लाभप्रद इसकी और कोई चिकित्सा है ? अनुभव कहता है नहीं है। हठयोगमें जो शवासन, भगवान महावीरकी भाषामें जो कायोत्सर्ग है और भगवान् बुद्धकी भाषामें जो आनापानस्मृति है, वही इसकी सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा है। यह शिथिलीकरण क्या है ? निवृत्ति। शरीर चेष्टाकी निवृत्ति, भाषाकी निवृत्ति और मनकी निवृत्ति। जो मनको खाली करना नहीं जानता, वह उसे भर भी नहीं सकता। तुम्हारी प्रवृत्ति इसीलिए प्रबल नहीं बनती है कि तुम निवृत्तिको भुलाकर प्रवृत्ति करते हो।

कामके बाद आराम और आरामके बाद काम जो करता है, वह उस व्यक्तिकी अपेक्षा अधिक काम कर सकता है, जो निरन्तर काम-ही काम करता है, विश्राम नहीं करता। जागरणके बाद नींद और नींदके बाद जागरण—यह क्या है ? प्रवृत्ति और निवृत्तिका सन्तुलन। निवृत्तिकी मेरी परिभाषा है सबसे बड़ी प्रवृत्ति। निवृत्तिका अर्थ है दूसरेकी प्रवृत्ति में एककी निवृत्ति। प्रवृत्ति सत्का लक्षण है। जिसका अस्तित्व है उसमें प्रवृत्ति है, सक्रियता है। जिसमें प्रवृत्ति नहीं है, वह असत् है। तर्क शास्त्रकी भाषामें कहा जाता है—जो अर्थ क्रियाकारी है, वह सत् है। पूर्ण निवृत्ति कभी नहीं होती, किसीमें भी नहीं होती। निवृत्तिका अर्थ हो है प्रवृत्तिका रूपान्तर। एक व्यापारी व्यापारसे निवृत्त होता है और धार्मिक कार्यमें प्रवृत्त। एक किसान धार्य-कार्यसे निवृत्त होता है और कृषि कार्य

होगा, तुम जल्दी ही मस्त रहोगे। तुम्हारा स्नायु संस्थान तुम्हें सुदृढ़ रहेगा और विचार की शृंखला छिन्न विच्छिन्न हो जायगा।

योगोंका नाम सुनकर चौंको मत। मैं फिर कहता हूँ कि हर व्यक्ति को योगी बनना चाहिए। इन्द्रियों और मनको इतना समाधान अवश्य देना चाहिए जितना मानसिक सन्तुलनके लिए आवश्यक हो।

तुम्हारे आवेग, तुम्हारे विक्षेप और तुम्हारे संकल्प विकल्प तुम्हें शक्तिहीन किये हुए हैं। तुम अपनी शक्तिके अजस्र स्रोतको प्रवाहित करना चाहते हो तो आवेगोंपर विजय प्राप्त करो। विक्षेपोंको मिटाओ, संकल्प विकल्पोंपर शासन करो। तुम योगी बनकर ही ऐसा कर सकोगे। तुम निरे भोगी बनकर सेवक ही रहोगे स्वामी नहीं बनोगे। सेवकको रोटी मिल सकती है पर समाधान नहीं मिलता। योगी वह होता है जिसके लिए समाधान पाना शेष नहीं रहता। समस्या तुम भी नहीं चाहते समाधान चाहते हो। तुम्हारी दैहिक आवश्यकताओंका समाधान बाहर है पर तुम्हारी आन्तरिक समस्याओंका समाधान कहीं बाहर नहीं है। वह तुम्हारे भीतर ही है तुम्हारे मनमें है तुम्हारी आत्मामें है। मशाल जलाओ, उसके आलोकमें अपने आपको ढूँढो। तुम स्वयं देख पाओगे कि तुम अनन्त शक्तिके स्रोत हो।

• •

तुम्हारा भविष्य तुम्हारे हाथमें

मन बड़े सहज भावसे कह दिया कि मनको जगाओ, पर उसे जगाना क्या इतना सरल है? जितना शब्दमें दीखता है? तुम जब-जब उसे जगानेका यत्न करोगे तब-तब इन्द्रियोंका तूफान आयगा। तुम इससे नहीं निपट पाओगे। मनका दिया बुझाका बुझा रह जायगा।

मन बड़े सहज भावसे कह दिया कि मनको खाली कर डालो। पर उसे खाली करना क्या इतना सरल है जितना शब्दमें दीखता है? तुम जब-जब उसे खाली करनेका यत्न करोगे तब तब विकल्पोंका तूफान आयगा। तुम उससे नहीं निपट पाओगे। मन भराका भरा रह जायगा। तुम मानते हो कि स्मृति मनुष्यके लिए वरदान है। मैं भी मानता हूँ कि वह वरदान है। पर तुम क्या नहीं मानते कि वह अभिशाप भी है। विस्मृतिको तुम अभिशाप मानते हो। मैं भी मानता हूँ कि वह अभिशाप है। पर तुम क्या नहीं मानते कि वह वरदान भी है। कोरी स्मृति और कोरी विस्मृति दोनों अभिशाप हैं। कदाचित् स्मृति और कदाचित् विस्मृति दोनों वरदान हैं।

कोई भी विचार मनमें उठता है वह अपना संस्कार छोड़ जाता है। विचार अच्छा भी होता है बुरा भी होता है। अच्छा संस्कार तुम्हें ऊपर उठाता है तो बुरा संस्कार तुम्हें नीचे ले जाता है। विस्मृतिका [illegible] तुम्हारे हाथमें नहीं है तो तुम्हारा सुन्दर भविष्य तुम्हारे हाथमें नहीं है। तुम प्रयत्न करो कि कोई भी बुरा विचार तुम्हारे मनमें न घुस पाए। यदि कोई घुस जाये तो विस्मृतिका सहारा लो। उसे इस प्रकार भुला दो जैसे वह तुम्हारे मस्तिष्कका स्पर्श भी न कर पाया हो। विस्मृतिका प्रयत्न

करोगे तो उसकी स्मृति प्रबल होकर उभर आयेगी। उसका उपाय यह है कि तुम अच्छे संस्कारकी स्मृतिको इतना प्रबल करो कि बुरेकी विस्मृति अपने आप हो जाय। प्रेम या उपशमको पुष्ट करो क्रोध नष्ट हो जायगा। मृदुताको पुष्ट करो अभिमान क्षीण हो जायगा। ऋजुताका ध्यान करो कपट पराजित हो जायगा। सन्तोषका बार बार चिन्तन करो, लोभ विलीन हो जायगा। क्रोध अभिमान माया और लोभ—ये तुम्हारे भाग्य को क्षत विक्षत करनेवाले कांटे हैं। इनका प्रतिरोध करके ही तुम अपने भाग्यकी सृष्टि कर सकते हो। भाग्य और क्या है? पवित्र विचारोंकी सृष्टि भाग्यकी सृष्टि है और अपवित्र विचारोंकी सृष्टि ही दुर्भाग्यकी सृष्टि है। तुम स्वतन्त्र स्रष्टा हो अपने भाग्यके और दुर्भाग्यके। तुम चाहो तो अपवित्र विचारोंको विलीन कर पवित्र विचारोंका सृजन कर सकते हो। आज तुम अपने मनपर अपने सूक्ष्म शरीरपर जो अंकित करते हो, वही कल तुम्हारा भाग्य बन जाता है। वर्तमानका प्रयत्न पुरुषार्थ कहलाता है और अतीतका प्रयत्न भाग्य। जब कार्य या विचार अव्यक्त होता है तब संस्कार कहलाता है और वही जब व्यक्त होता है तब भाग्य कहलाता है।

मैं नहीं जानता तुम आस्तिक हो या नास्तिक? मैं नहीं जानता तुम भाग्यमें विश्वास करते हो या नहीं? यह जानकर मैं क्या नया ज्ञान पाऊंगा? मैं जानता हूं कि क्रियाकी प्रतिक्रिया अवश्य होती है। इस शाश्वत सत्यको तुम भी अस्वीकार कैसे करोगे? एक बार जो देखा है सुना है और अनुभव किया है वह स्मृति बनकर तुम्हारे सामने आता है—एक बार ही नहीं हजारों बार। वह तुम्हें प्रभावित करता है। उससे तुम कभी तुष्ट होते हो कभी रुष्ट। कभी आनन्दकी चोटीपर चले जाते हो और कभी शोककी अतल गहराईमें डूब जाते हो। संस्कार उद्बुद्ध होता है स्मृति हो जाती है वैसे ही कोई सूक्ष्म संस्कार उद्बुद्ध होता है तुम्हारी बुद्धि उचित चिन्तनमें लग जाती है और कोई सूक्ष्म संस्कार जागृत होता है तुम्हारी बुद्धि अनुचित चिन्तनमें लग जाती है।

मस्तिष्क तुम्हारे स्थूल शरीरका एक भाग है। उसमें असंख्य प्रकोष्ठ हैं। प्रत्येक प्रकोष्ठमें असंख्य संस्कार छिपे हुए हैं। उन्हें तुम फैला सको तो तुम्हें ऐसे सैकड़ों भूमापाकी सृष्टि करनी पड़े। इस स्थूल शरीरका मूल कारण सूक्ष्म शरीर है। इनकी प्रतिक्रियाका मूल हेतु सूक्ष्म शरीर है और उसीका स्थूल रूप [illegible] दृश्य शरीर। तुम अदृश्यको नहीं मानते इसमें तुम्हारा क्या अपराध है? इन्द्रियाँ दृश्यसे आगे नहीं जातीं। मन अदृश्य तक पहुँचता है पर संस्कारके बिना नहीं। उसे सहारा ना देते हैं—इन्द्रियाँ और तर्क। इन्द्रियाँ उस अदृश्य तक नहीं पहुँच सकतीं। क्योंकि अदृश्य उनका विषय नहीं है। शास्त्रमें तुम्हारी आस्था नहीं। तुम्हारे पास यह प्रमाण भी नहीं है कि जिसका यह शास्त्र है वह अदृश्य-दर्शी था। तुम किसीके शब्दको प्रमाण नहीं मानते इसके लिए तुम्हारा यही तो तर्क है पर तर्क कहीं प्रतिष्ठित नहीं होता, इसके लिए तुम्हारे पास क्या तर्क है? अदृश्य-दर्शी तुम भी नहीं हो। अनन्त अतीतमें जो हुआ है उसके लिए तुम कल्पना ही दे सकते हो प्रमाण नहीं। प्रमाण तो तुम अदृश्य-दर्शी होकर ही प्रस्तुत कर सकते हो। दृश्य-दर्शी होकर तो तुम इतना ही कहनेका अधिकार पा सकते हो कि मैं इसके आगे नहीं देख पाता। इसका मैं कब विरोध करता हूँ। मैं दृष्टिकी क्षमताको जानता हूँ और उसकी सीमासे भलीभाँति परिचित हूँ इसलिए मैं तुम्हारी क्षमताको चुनौती नहीं देता। पर तुम अपनी सीमित दृष्टिको भुलाकर अनन्त सत्यको चुनौती देते हो इसे मैं तुम्हारी अनधिकार चेष्टा मानता हूँ और मानता हूँ इसे तुम्हारी प्रगतिमें बाधा। हमारा हर कम्पन अपना अस्तित्व छोड़ जाता है। इस आकाश-मण्डलमें ऐसे अनन्त अस्तित्व हैं। सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र नहीं थे तब वे अदृश्य थे। आज उनसे मनुष्य परिचित हो गया है। हर पदार्थका प्रतिबिम्ब और हर ध्वनिकी प्रतिध्वनि आकाशमें अव्यक्त होकर फिर व्यक्त हो जाती है—एककी अभिव्यक्तिका साधन टेलिविजन है और दूसरेका अभिव्यक्तिका रेडियो। आज हम अदृश्यसे दृश्यकी ओर आगे बढ़े हैं।

किसी युगमें जो आत्मस्थ योगीके लिए दृश्य था, वह आज जन-साधारणके लिए दृश्य बन गया है। सत्यका रहस्योद्घाटन होता जा रहा है। वह अनन्त है इसलिए वह पूर्णतः अनावृत नहीं होता। फिर भी हम प्रयत्नवान् हों तो उतना सत्य अनावृत कर सकते हैं जितना हमारी गति और स्थिति को आलोकित कर सके।

हम पुरुषार्थकी गाथा गाते समय भाग्यको भूल जाते हैं। इसका अर्थ है कि हम सत्यसे आँख मिचौनी खेलना चाहते हैं। भाग्यमें जो अविश्वास है वह पुरुषार्थके फलदानकी प्रक्रिया है। पुरुषार्थ कभी विफल नहीं होता—यह शाश्वत सत्य है। भाग्य इसीकी एक व्याख्या है। पुरुषार्थका जो दृश्य और तात्कालिक परिणाम है वह तुम्हारी सफलता है। उसका जो अदृश्य और दूरगामी परिणाम है वही तुम्हारा भाग्य है। पुरुषार्थको तुम इसलिए महत्त्व देते हो कि उससे कर्ममें परिवर्तन हो सकता है। अच्छा पुरुषार्थ प्रबल हो तो अशुभ कर्मको शुभमें बदला जा सकता है और बुरा पुरुषार्थ प्रबल हो तो शुभ कर्म अशुभमें बदला जा सकता है। यह पुरुषार्थकी महिमा है पर भाग्य भी तो उसीकी अभिन्न शृंखला है। आजकी जागरूकताका परिणाम आज भी अच्छा हो सकता है और बीस वर्ष तक वह उसी रूपमें चल सकता है। आजके प्रमादका परिणाम आज भी भयंकर हो सकता है और दस वर्ष तक वह वैसा फल दे सकता है। यह हमारे जीवनकी सहज किन्तु बहुत जटिल प्रक्रिया है। हमारा हर पुरुषार्थ अणुओंका एक वर्ग हमारे साथ जोड़ जाता है। वे ही अणु अपनी स्थितिके क्रमसे हमें प्रभावित करते रहते हैं। हम उनकी अटूट कड़ीको तोड़ना नहीं जानते।

हर आदमी विष और अमृत खानेमें जितना स्वतन्त्र है उतना उसका परिणाम भुगतनेमें स्वतन्त्र नहीं है। पेड़पर चढ़नेमें हर आदमी स्वतन्त्र है पर उतरनेमें परतन्त्र। खानेमें हर आदमी स्वतन्त्र है पर पचानेमें परतन्त्र। इन नियमोंके आलोकमें तुम उस नियमको पढ़ो कि हर आदमी पुरुषार्थ

करनेमें स्वतन्त्र हैं पर उसका [illegible]
कि तुम्हारा भाग्य तुम्हारा [illegible] है। और [illegible]
तुम्हारा भविष्य तुम्हारे हाथमें है। [illegible]
[illegible] पर वर्तमानका [illegible]
अधिकार नहीं है। तुम्हारा [illegible]
तुम्हें अधिकारमें नहीं [illegible] और [illegible]
भटकायगा? तुम भाग्यका [illegible]
और जो तुम्हारे भाग्यका [illegible] है। [illegible]
तुम भय त्यागो। उस बुरे [illegible]
तुम सुन्दर सुखी और [illegible] है।
विचारोंपर अधिकार पाना [illegible]
अधिकार पानेका विचार [illegible]
तुम्हारे भविष्यका निर्माण-कार्य [illegible] है।

जो विचार एक बार [illegible] है [illegible]
छोड़ जाता है। इस जानकर तुम [illegible] विचार
जाय। कोई भी आत्मा अपने [illegible]
सत्य है। मूल सत्य है कि अगर [illegible]
दूसरेके लिए बुरा विचार कर [illegible]
करनेवाले पहले अपनी आत्माका [illegible] है। [illegible]
वाला अपना अहित सोचता है [illegible] है। [illegible] है
कि मनमें बुरा विचार लाकर तुम [illegible]
दूसरोंका अहित तो उससे हो या न हो [illegible]

इस असीम आकाशमें [illegible] है और [illegible]
भी है और मलीनता भी है [illegible] है [illegible]
कुछ है जो तुम चाहते हो और [illegible]
जो चाहते उसे तबतक नहीं पा [illegible]

तुम्हारा भविष्य तुम्हारे हाथमें

तुम्हें अपने और दूसरोंके लिए बुरा विचार मनमें लाना चाहिए। पाना चाहते हो। तुम विश्राम चाहते हो तो निश्चित मानो कि विनाशका विचार मनमें भरकर तुम विश्राम नहीं कर सकते। विश्रामका विचार मनमें भरो वह स्वयं तुम्हारी ओर खिंचा आयगा। तुम शान्ति चाहते हो तो निश्चित मानो कि अशान्तिका मनमें प्रज्वलित कर तुम शान्ति नहीं पा सकते। शान्ति के विचारसे मनको अभिषिक्त करो वह स्वयं तुम्हारा वरण करेगा।

मनको जगाना और खाली करना योगीके लिए सरल है पर लिए नहीं। किन्तु इतना साधना तो सबको होनी चाहिए कि अंधियारेमें भी पथ मिल जाये और इष्ट अनिष्टके ऊपर आ जाय।



तुम्हें अपने और दूसरोंके लिए वही विचार मनमें लाना चाहिए जो तुम पाना चाहते हो। तुम विकास चाहते हो तो निश्चित मानो कि दूसरेके विनाशका विचार मनमें भरकर तुम विकास नहीं कर सकते! विकास ही विकासका विचार मनमें भरो यह स्वयं तुम्हारी ओर खिंचा खिंचा आयगा। तुम शान्ति चाहते हो तो निश्चित मानो कि जलनका विचार मनमें प्रज्वलित कर तुम शान्ति नहीं पा सकते! शान्ति ही शान्तिके विचारसे मनको अभिषिक्त करो वह स्वयं तुम्हारा वरण करेगा!

मनको जगाना और खाली करना योगीके लिए सरल है पर सबके लिए नहीं। किन्तु इतनी साधना तो सबको होनी चाहिए कि अभावकी अंधियारीमें भी पथ मिल जाय और इष्ट अनिष्टके ऊपर आ जाय।

● ●

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]